प्रश्नोपनिषत्

स्वामी त्रिभुवनदास

प्रश्नोपनिषत्

PRASHNOPANISAT

।।श्रीः।।

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१८७

प्रश्नोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

(विमर्शात्मक संस्करण)

व्याख्याकार
स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

प्रश्नोपनिषत्

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2016
पृष्ठ : 28+124
मूल्य : ₹ 100.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. वा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-682-2

सम्पादन सहयोग - रुद्रनारायण दास

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
187

PRASHNOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

(Critical Edition)

by

Swami Tribhuvandass

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Prashnopanisat

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2016
Pages : 28 + 124
Price : ₹ 100.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-682-2

Editorial Assistance - Rudranarayan Dass

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

मैंने व्याकरण तथा वेदान्तके अप्रतिम विद्वान् **पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल** और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम **स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीजी** से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त **श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज** की पावन आज्ञा से प्रवर्तमान उपनिषद्व्याख्यानमाला का चतुर्थ प्रसून प्रश्नोपनिषत् की प्रस्तुत तत्त्वविवेचनी व्याख्या है। 'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ, ईश, केन, कठ और तत्त्वत्रय की तत्त्वविवेचनी व्याख्या के प्रकाशन के पश्चात् प्रस्तुत व्याख्या निष्पन्न हुई। पूज्य गुरुदेव और अनन्तश्रीविभूषित भक्तिशास्त्रमर्मज्ञ श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर **श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज** ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्य के प्रेरणास्रोत हैं। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

श्रीमहेशचन्द्र मासीवाल (साहित्याचार्य- एम्.एड्., संस्कृत शिक्षक पी. वाई. डी. एस्. लर्निंग एकेडमी, देहरादून) ने तत्परतासे अक्षरसंयोजन, **श्रीरामशरणदास**(जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य सेवापीठ चतरा, वराहक्षेत्र, नेपाल)और **गोपाल दासजी**(श्रीकृष्णकुञ्ज, मायाकुण्ड ऋषीकेश)ने अक्षरशुद्धिनिरीक्षण तथा **रुद्रनारायणदासजी** (स्वामी रामानन्दाश्रम, मायाकुण्ड ऋषीकेश)ने कुशलता से सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है। इन सभीके परिश्रमके परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

दीपावली
वि.स.2072

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गङ्गालाइन
पो.- स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश),
उत्तराखण्ड, पिन-249304,
चलवाणी- 8057825137 (8 से 9 रात्रि)

शुभ-आशीर्वाद

श्रीराम

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। वे वेदों के सारसर्वस्व हैं। श्रीत्रिभुवनदासजी ने उपनिषदों पर विशद तत्त्वविवेचनी व्याख्या करके पाठकों का अत्यन्त हित किया है। वास्तव में आजकल पाठकों एवं लेखकों की आध्यात्मिक विषय में रुचि ही नहीं है। यह प्रेरणास्पद कार्य अपने में अनूठा है, इस महान् कार्यहेतु मैं आशीर्वाद देता हूं।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास छावनी
अयोध्या

शुभ-सम्मति

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अखिलहेयप्रत्यनीक, असंख्येयकल्याणगुणैकनिलय, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, भक्तवत्सल, शरणागतवत्सल, चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्र भगवान् की अहेतुकी अनुकम्पा से न्यायव्याकरणवेदान्तादि शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान्, तप:स्वाध्यायनिरत, मानद, अमानी, सहज, सरल, हमारे परम स्नेही, आदरणीय, पूज्य स्वामी त्रिभुवनदासजी ने सत्साहित्यसृजनानुष्ठान के फलस्वरूप मुमुक्षुजनों को अनुपमोपहार के रूप में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन एवं ईशावास्योपनिषत्, केनोपनिषत्, कठोपनिषत् तथा तत्त्वत्रय आदि का व्याख्यान ग्रन्थाकाररूप में प्रस्तुत किया, जो कि प्रकाशित हो चुका है। अब प्रभुकृपा से प्रश्नोपनिषत् का विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्यान प्रकाशित हो रहा है, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है। आनन्दभाष्यकार यतिपतिदिनेश श्रीरामावतार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज के भी उपनिषदों पर भाष्य उपलब्ध हैं। **एतच्च तत्तदुपनिषद्विवेचनायां स्पष्टीकृतमस्माभिरिति तत एवावगन्तव्यम्** इस प्रकार ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.2 में आचार्य स्वयं स्वकृत उपनिषद्भाष्य का उल्लेख करते हैं। यह परम सौभाग्य का विषय है कि आचार्यचरण इनके हृदय में विराजमान होकर पुन: यह कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

न्यायरत्न, वेदान्ततीर्थ, तर्कवागीश, न्यायवेदान्तकेशरी इत्यादि उपाधिसमलंकृत पण्डितसम्राट श्रीवैष्णवदासजी (स्वामी वैष्णवाचार्य) ने भी वैष्णवभाष्यसंवलित भाषाभाष्ययुक्त प्रश्नोपनिषदादि का

प्रकाशन सन 1942 ई, में श्रीपहाडी बाबा आश्रम खाकचौक से किया था। भगवान श्री सीतारामजी हमारे परमसुहृद श्रद्धेय विद्वद्वरेण्य श्रीत्रिभुवनदासजी को अपने चरणों में प्रतिक्षण वर्धमान अनुरागप्रदानपूर्वक पूर्णनैरुज्यदीर्घायुष्य प्रदान कर इनकी लेखनी को गतिशील बनाकर विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त दर्शन जो कि पूर्णव्यावहारिक एवम् अनुभवगम्य है, उसका विश्वव्यापी प्रचार करवाते रहें।

श्रीहरिगुरुपादपद्माश्रित दासानुदास
राजेन्द्रदास देवाचार्य
श्रीमलूकपीठ वंशीवट,
वृन्दावन

सम्पादकीय

प्रश्नोपनिषद् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही व्याख्या सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने के लिए इसे समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामी जी को इष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की संक्षिप्त समालोचना हुई है, जो कि प्रासंगिक है। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदों के अध्येता इस ग्रन्थ रत्न का आदर करेंगें।

प्रस्तावना

महर्षि पतञ्जलि ने **नवधाऽऽथर्वणो वेदः** (महाभाष्य -पस्पशाह्निक)। इस प्रकार महाभाष्य में अथर्ववेद की 9 शाखाएं कही हैं। उनमें पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रश्नोपनिषत् है। ग्रन्थ के उपक्रम में ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले छः ऋषियों का महर्षि पिप्पलाद आचार्य के पास जाना वर्णित है। वे अपने समय के अद्वितीय श्रोत्रिय- ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष रहे हैं। शिष्य की पात्रता की परीक्षा के विना ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए अन्यथा उसके व्यर्थ होने की संभावना रहती है। अनधिकारी को प्रदत्त उपदेश कभी-कभी हानिकारक भी हो जाता है। इसी कारण महापुरुषों ने कहा है कि चाहे ऊषर भूमि में बीज बो दें, नपुंसक के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दें, वानर के गले में उत्तम पुष्पमाला अर्पित कर दें किन्तु अपात्र को ब्रह्मविद्या न दें - **ऊषरे निर्वपेद् बीजं षण्डे कन्यां प्रयोजयेत्। सृजेद् वा वानरे मालां नापात्रे शास्त्रमुत्सृजेत्॥** संसारबन्धन का समूलोच्छेद करने वाली इस विद्या के समान कोई वस्तु नहीं है अतः इसे देने से पूर्व शिष्यों के अधिकार की परीक्षा के लिए आचार्य पिप्पलाद ने उन्हें एक वर्षपर्यन्त तप तथा ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक सेवा करते हुए अपनी सन्निधि में गुरुकुलवास करने की आज्ञा प्रदान की। इससे ज्ञात होता है कि सहसा उपदेश करने से तत्त्व का बोध नहीं होता किन्तु नियमपूर्वक आचार्य की सेवा से अन्तःकरण निर्मल होने पर शिष्य ब्रह्मविद्या ग्रहण करने का पात्र बन जाता है। एक वर्षपर्यन्त गुरुकुल वास के पश्चात् जिज्ञासु ऋषि पृथक्-पृथक् प्रश्न करके और उनके उत्तर पाकर धन्य हो गये। उन प्रश्नोत्तरों का सम्मिलित रूप यह प्रश्नोपनिषत् है। इसमें प्रश्न के अनन्तर ही उपदेश वर्णित हैं इसलिए यह प्रश्नोपनिषत् कहलाती है। यह दश प्रसिद्ध उपनिषदों में चतुर्थ है, इसमें जगत् की सृष्टि आदि का विचार तथा ब्रह्म तत्त्व का विचार प्रश्नोत्तरात्मक सरल-सुबोध शैली से प्रतिपादित है।

प्रश्नोपनिषत् का सार

प्रथम प्रश्न

कात्यायन कबन्धी ने आचार्य पिप्पलाद से पूँछा कि यह प्रजा किस से उत्पन्न होती है? आचार्य ने उत्तर दिया कि - प्रजापति ने बहुत प्रजा उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रथम रयि और प्राण को उत्पन्न किया। यहाँ प्रजापति का अर्थ चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं हैं क्योंकि वह स्वयं भी प्रजा है, उसके भी उत्पत्ति के कारण का प्रश्न है अत: प्रजापति का अर्थ जगत्कारण परब्रह्म है। प्राण का अर्थ आदित्य अर्थात् भोक्ता जीव है और रयि का अर्थ चन्द्रमा अर्थात् भोग्य प्रकृति है। स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा अपने आश्रित रहने वाले धर्मभूत ज्ञान से स्वव्यतिरिक्त विषयों को प्रकाशित करती है। इन्द्रियों का प्रेरक वह ब्रह्मात्मक आत्मा नाना प्रकार की देहात्मबुद्धि वाली होकर सुषुप्ति स्थान से जाग्रत में आती है। ब्रह्मात्मक संवत्सर के दो भेद हैं - दक्षिणायन और उत्तरायण। सकामभाव से श्रौत-स्मार्त कर्म करने वाले मरकर चन्द्रलोक में सुखभोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं। उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक जाने वाले पुनः वहाँ से नहीं आते हैं। प्रत्यगात्मविद्या (ज्ञानयोग) द्वारा साध्य ब्रह्मोपासना है। उपास्य ब्रह्म ही निरतिशय भोग्य है। आगे चिन्तन के लिए संवत्सर को परमात्मा, शुक्लपक्ष को प्राण, कृष्ण पक्ष को रयि तथा दिन को प्राण और रात्रि को रयि कहा है। दिन में स्त्रीसहवास करने से प्राण क्षीण होते हैं। अन्न खाने से व्यक्ति प्रजा को उत्पन्न करता है। प्रजा उत्पन्न करने वाले को पुत्र, पशु आदि विनाशी फल प्राप्त होते हैं। जो सत्य बोलते हैं, कुटिल और मायावी नहीं हैं, वैसे मुमुक्षुओं को परब्रह्मरूप फल प्राप्त होता है।

द्वितीय प्रश्न

कितने देवता शरीररूप प्रजा को धारण करते हैं? कितने प्रकाशित करते हैं और इनमें श्रेष्ठ कौन है? ऐसा भार्गव वैदर्भि के प्रश्न करने पर आचार्य पिप्पलाद ने बताया कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देवता हैं। ये सभी शरीर के कार्यों को निष्पन्न

करते हैं, फिर भी मुख्य प्राण प्रधान है, वही धारक है, प्रकाशक है और श्रेष्ठ भी है। उसकी महिमा को प्रतिपादित करने वाली आख्यायिका इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है - प्राण ने कहा कि मैं शरीर को धारण करने वाला हूँ, मेरे अधीन ही तुम सब के कार्य हैं। इस कथन पर वागादि इन्द्रियाँ (इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता) अश्रद्धा करने लगीं तब मुख्य प्राण शरीर से थोड़ा ऊपर की ओर निकलने लगा, उसके निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकलने लगीं और उसके स्थिर होने पर स्थिर हो गयीं। प्राण के विना अपने अस्तित्व की समाप्ति को समझकर वागादि इन्द्रियों ने उसकी स्तुति की और श्रेष्ठता को स्वीकार किया।

तृतीय प्रश्न

हे भगवन् ! यह प्राण किससे उत्पन्न होता है? इस शरीर में कैसे आता है? अपना विभाग करके शरीर में कैसे रहता है? किससे उत्क्रमण करता है? बाह्यरूप से कैसे सन्निहित रहता है? और आन्तरिकरूप से कैसे रहता है? इस प्रकार आश्वलायन कौसल्य के प्रश्न करने पर महर्षि पिप्पलाद ने '' तुम रहस्य विषयों को पूँछते हो अतः ब्रह्मज्ञानी जैसे हो।'' यह कहकर उत्तर दिया- प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है, वह छाया की तरह पुरुष के शरीर से सम्बद्ध रहता है और पुण्य-पापरूप कर्म के कारण जीव के साथ इस शरीर में आता है। मुख और नासिका से संचरण करने वाला मुख्यप्राण चक्षु और श्रोत्र में रहता है। वह अपान वायु को पायु और उपस्थ में रखता है, नाभि में समान वायु को रखता है। समान वायु भोजन के परिणाम को शरीर के सभी भागों में समानरूप से पहुँचाता है। जिससे दो श्रोत्र, दो घ्राण, दो नेत्र और एक मुख ये ज्वालारूप सात अङ्ग स्वस्थ रहकर अपना कार्य करते रहते हैं। आत्मा हृदय में रहती है। शरीर में हजारों नाड़ियाँ हैं, जिनमें 101 प्रधान हैं। इन सभी में व्यान वायु संचरण करता है। उदान वायु एक नाड़ी के द्वारा पुण्य कर्म से स्वर्ग लोक और पाप कर्म से नरक लोक में ले जाता है तथा दोनों प्रकार के कर्मों से मनुष्य लोक में ले जाता है। आदित्य बाह्य प्राण है क्योंकि वह चक्षु पर अनुग्रह करते हुए बाहर आदित्यरूप से उदय होता है। पृथ्वी में विद्यमान प्राण की कलारूप देवता पायु और उपस्थ को अनुग्रहीत करती

है। आकाश और पृथ्वी का मध्यवर्ती आकाश समानवायु है और त्वग् इन्द्रिय का अनुग्राहक बाह्यवायु व्यान है। जिसके शरीर का तेज (उष्णता) शान्त हो जाता है। वह जीवात्मा मनुष्य, पशु आदि किसी एक योनि में जन्म लेने का संकल्प करके इन्द्रिय और प्राण के साथ शरीर से निकलकर नूतन शरीर को प्राप्त करने के लिए चला जाता है। इसके पश्चात् प्राणोपासक की महिमा निरूपित है।

चतुर्थ प्रश्न

पुरुष के स्वप्नावस्था में जाने पर कौन से करण अपने कार्यों से उपरत हो जाते हैं? और कौन अपना कार्य सम्पादित करते रहते हैं? पुरुष कैसा होकर स्वप्न के पदार्थों को देखता है? वैषयिक सुख किस कारण से होता है? और सुषुप्ति काल में सब किसमें स्थित होते हैं? गार्ग्य सौर्यायणी के प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर पिप्पलाद महर्षि ने इस प्रकार दिया - स्वप्नावस्था में मन को छोड़कर अन्य इन्द्रियाँ अपने कार्यों से उपरत हो जाती हैं इसलिए पुरुष देखता नहीं और सुनता भी नहीं तब मन और प्राण दोनों ही अपना कार्य करते रहते हैं किन्तु सुषुप्ति में मन भी उपरत हो जाता है उस समय केवल प्राण अपना कार्य करते रहते हैं और जीवात्मा परमात्मा से आलिङ्गित होता है अर्थात् इन्द्रिय, मन और प्राण के सहित परमात्मा में स्थित होता है। यह आत्मा कर्ता, ज्ञाता तथा ज्ञानरूप है। ब्रह्म को जानने वाला सर्वज्ञ होता है और सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करता है।

पञ्चम प्रश्न

शिवि के पुत्र सत्यकाम ने पूँछा कि जो ध्यानयोगी मृत्युपर्यन्त ओंकार का ही ध्यान करता है, वह किस लोक को प्राप्त करता है? इस प्रश्न का महर्षि पिप्पलाद ने इस प्रकार उत्तर दिया कि पर और अपर ब्रह्म दोनों का वाचक ओंकार है, अतः उससे दोनों में किसी एक को प्राप्त करता है। एक मात्रा वाले ओंकार का ध्यान करने वाला मनुष्यलोक को प्राप्त करता है, दो मात्रा वाले ओंकार का ध्यान करने वाला चन्द्रलोक को प्राप्त करता है और तीन मात्रा वाले ओंकार से परब्रह्म का ध्यान करने

वाला पापरहित होकर ब्रह्मलोक जाता है। ओंकार का शीघ्रता ओर विलम्ब से रहित सम्यक् उच्चारण करना चाहिए।

षष्ठ प्रश्न

भारद्वारज सुकेशा के द्वारा सोलह कलाओं वाले पुरुष को पूँछने पर आचार्य पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि प्राणादि 16 कलाओं वाला पुरुष इस शरीर में रहता है। कलाएं उसे सुख- दुःख का भोग प्रदान करती हैं। वह कर्म के द्वारा प्राणादि का रचयिता होता है। जैसे नदियों के समुद्र में जाने पर उनके नाम-रूप नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मदर्शी की कलाओं को परब्रह्म में जाने पर उनके नाम रूप नहीं रहते। परमात्मा अकल और अमृत है। वह सबका आश्रय है। ब्रह्मोपासकों को मृत्यु व्यथित न करे। ब्रह्मविद्या का उपदेशक ही वास्तविक पिता है, ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाले श्रेष्ठ ऋषियों को नमस्कार ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन तथा ईशावास्योपनिषत्, केनोपनिषत्, कठोपनिषत् और तत्त्वत्रयम् की व्याख्या प्रकाशित होने के पश्चात् जगदम्बा भगवती श्रीसीता माता तथा सर्वेश्वर प्रभु श्रीरामचन्द्र के अहेतुक अनुग्रह से प्रस्तुत प्रश्नोपनिषत् का व्याख्यालेखन सम्पन्न हुआ।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन,
स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड, पिन- 249304
चलवाणी-8057825137(रात्रि- 8 से 9)

विषयानुक्रमणिका

प्रश्नोपनिषत्

परिशिष्ट

प्रश्नोपनिषत्

प्रश्नोपनिषत्

मूलपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

प्रथमः प्रश्नः

हरिः ओम् ।।

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनः ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।।1।।

तान् ह स ऋषिरुवाच, भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः, सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।।2।।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।।3।।

तस्मै स होवाच। प्रजाकामो ह वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेति, एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।।4।।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च। तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।।5।।

अथाऽऽदित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशः, यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ।।6।।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्।।7।।
विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिश्शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।8।।
संवत्सरो वै प्रजापतिः। तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद् ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते, त एव पुनरावर्तन्ते। तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।।9।।
अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य आदित्यमभिजयन्ते। एतद् वै प्राणानामायतनम् एतदमृतमभयम् एतत्परायणम्, एतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। तदेष श्लोकः।।10।।
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति।।11।।
मासो वै प्रजापतिः। तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः, शुक्लः प्राणः।
तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन् ।।12।।
अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते । ब्रह्मचर्यमेव तत्, यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।।13।।
अन्नं वै प्रजापतिः, ततो ह वै तद् रेतः, तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।।14।।
तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोकः। येषां तपो ब्रह्मचर्यम्, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।।15।।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः, न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।।16।।

।। इति प्रथमः प्रश्नः ।।

द्वितीयः प्रश्नः

हरिः ओम् ।।
अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति।।1।।
तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति, वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयाम इति।।2।।
तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः।।3।।

मूलपाठः

सोऽभिमानादूर्ध्वम् उत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रमन्ते । तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते। तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।।4।।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवान् एष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।5।।
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।।6।।
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण!
प्रजास्त्विमाः बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।।7।।
देवानामसि बह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि।।8।।
इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः।।9।।
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण! ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति।।10।।
व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः।।11।
या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः।।12।।
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च धेहि न इति।।13।।

।। इति द्वितीयः प्रश्नः ।।

तृतीयः प्रश्नः

हरिः ओम्।।

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुत एषः प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिन् शरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रति तिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथम् अध्यात्ममिति?।।1।।

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान् पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेहं ब्रवीमि।।2।।

आत्मन एषः प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे।।3।।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामानेतान् ग्रामान् अधि तिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते।।4।।

पायूपस्थेऽपानम्। चक्षुश्श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते। मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। तस्मादेतास्सप्तार्चिषो भवन्ति।।5।।

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। आसु व्यानश्चरति।।6।।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।।7।।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता, सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य। अन्तरा यदाकाशः स समानः। वायुर्व्यानः।।8।।

तेजो ह वा उदानः।तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः।।9

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति। प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति।।10।।

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयते, अमृतो भवति। तदेष श्लोकः ।।11।।

उत्पत्तिमायातिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते, विज्ञायामृतमश्नुत इति।12।।

।। इति तृतीयः प्रश्नः ।।

चतुर्थः प्रश्नः

हरिः ओम्।।

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्! एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिन् जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति? कस्यैतत् सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति?।।1।।

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताःपुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्

सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ।।2।।
प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।।3।।
यदुच्छ्वासनिश्वासौ, एतावाहुती। समं नयतीति समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।।4।।
अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननूभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति।।5।।
स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ यद् एतस्मिन् शरीर एतत् सुखं भवति।।6।।
स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्व पर आत्मनि संप्रतिष्ठते।।7।।
पृथिवी च पृथिवीमात्रा च आपश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा च आकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यम् च त्वक् च स्पर्शयितव्यं व वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च।।8।।
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।।9।।
परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः।।10।।
विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति।।11।।

।। इति चतुर्थः प्रश्नः ।।

पञ्चमः प्रश्नः

हरिः ओम्।।

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।।1।।

तस्मै स होवाच, एतद् वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद् विद्वान् एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।।2।।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्याम् अभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।।3।।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।।4।।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः।।5।।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।।6।।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।।7।।

।। इति पञ्चमः प्रश्नः ।।

षष्ठः प्रश्नः

हरिः ओम्।।

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैनं प्रश्नमपृच्छत, षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ इति। तमहं कुमारमब्रुवम्, नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषम् कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति,योऽनृतमभिवदति, तस्मान् नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि, क्वासौ पुरुष इति।।1।।

तस्मै स होवाच। इहैवान्तश्शरीरे सोम्य स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः

प्रभवन्तीति।।2।।

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहम् उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति।।3।।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।।4।।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः।।5।।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।।
तं वेद्यं पुरुषं वेद मा वो मृत्युः परिव्यथा इति।।6।।

तान् होवाच, एतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद, नातः परमस्तीति।।7।।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।।8।।

।। इति षष्ठः प्रश्नः ।।

प्रश्नोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीतारामं नमाम्यहम्।।1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः।।2।।
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
प्रश्नोपनिषदो व्याख्या रुचिरा क्रियते मया।।3।।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वय

देवाः कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम। यजत्राः अक्षभिः भद्रं पश्येम। यद् आयुः देवहितं स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः तुष्टुवांसः व्यशेम। वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति। विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति। अरिष्टनेमिः ताक्ष्यः नः स्वस्ति। बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु।

अर्थ

देवाः- हे देवताओ! (हम सब) **कर्णेभिः**- कानों से **भद्रम्**- मङ्गलमय (परमात्मा के प्रतिपादक वेदान्त) वचनों को **शृणुयाम**- सुनें। **यजत्राः**-आराधना करते हुए (हम सब) **अक्षभिः**- आँखों से (परमात्मा के) **भद्रम्**- मङ्गलमय रूप को **पश्येम**- देखें। हम लोगों की **यद्**- जो

आयुः- आयु है। **देवहितम्**- परमात्मा की सेवा के लिए प्राप्त उस आयु को **स्थिरैः**- स्वस्थ **अङ्गैः**- अङ्गों वाले **तनूभिः**- शरीरों से (युक्त होकर हम सब) परमात्मा की **तुष्टुवांसः**- स्तुति करते हुए **व्यशेम**- व्यतीत करें। **वृद्धश्रवाः**- महान् कीर्ति वाला **इन्द्रः**- इन्द्र **नः**- हमारा (हमें) **स्वस्ति**- मङ्गल (मङ्गलमय परमात्मा का साक्षात्कार प्रदान) करे। **विश्ववेदाः**- सर्वज्ञ **पूषा**- सूर्य देवता (श्रवण का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमारा **स्वस्ति**- मङ्गल करे। **अरिष्टनेमिः**[1]- सर्वत्र अव्याहत गति वाले **तार्क्ष्यः**- गरुड देवता (मनन का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमारा **स्वस्ति**- मङ्गल करे। **बृहस्पतिः**- बृहस्पति देवता (निदिध्यासन का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमें **स्वस्ति**- मङ्गल **दधातु**- प्रदान करे। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**- त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमः प्रश्न

ब्रह्मविद्या का सुखपूर्वक बोध कराने के लिए आख्यायिका आरम्भ की जाती है-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम् ॥

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनः ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥1॥

अन्वय

भारद्वाजः सुकेशा शैब्यः सत्यकामः च गार्ग्यः सौर्यायणी च आश्वलायनः कौसल्यः च भार्गवः वैदर्भिः च कात्यायनः कबन्धी ब्रह्मनिष्ठाः

टिप्पणी- 1. अरिष्टा अकुण्ठिता अप्रतिबद्धा नेमिर्गतिः यस्य सः अरिष्टनेमिः।

ब्रह्मपराः ते ह एते परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः एषः ह वै तत् सर्व वक्ष्यति इति ते ह समित्पाणयः भगवन्तं पिप्पलादम् उपसन्नाः।

अर्थ

भारद्वाजः- भरद्वाज के पुत्र **सुकेशा**- सुकेशा, **शैब्यः**- शिबि का पुत्र **सत्यकामः**- सत्यकाम **च**- और **गार्ग्यः**- गर्ग के गोत्र में उत्पन्न **सौर्यायणी**[1]- सौर्यायणी **च**- और **आश्वलायन**[2]:- आश्वल का पुत्र **कौसल्यः**- कौसल्य **च**- और **भार्गवः**- भृगु के गोत्र में उत्पन्न **वैदर्भिः**[3]- वैदर्भिः **च**- **कात्यायनः**[4]-कत्य का पुत्र **कबन्धी**-कबन्धी **ब्रह्मनिष्ठाः**- तपोनिष्ठ (और) **ब्रह्मपराः**- ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मविचार) में तत्पर **ते**- वे **ह**- प्रसिद्ध **एते**- छः ऋषियों ने **परम्**- पर **ब्रह्म**- ब्रह्म की **अन्वेषमाणाः**- जिज्ञासा करते हुए **एषः**- यह **ह**- प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलाद **वै**- निश्चितरूप से (हमारे) **तत्**- जिज्ञासित (जानने के लिए इष्ट) **सर्वम्**- सभी विषयों को **वक्ष्यति**- कहेगा। **इति**- ऐसा विचार किया (और) **ते**- वे सुकेशा आदि छः **ह**- प्रसिद्ध ऋषि **समित्पाणयः**- हाथ में समिधा लिए हुए (शिष्यभाव से) **भगवन्तम्**- पूज्य **पिप्पलादम्**- पिप्पलाद आचार्य के **उपसन्नाः**- समीप गये।

व्याख्या

ब्रह्मविद्या के लिए आचार्य के समीप जाना

प्रस्तुत प्रश्नोपनिषत् प्रश्नोत्तरात्मिका संवादरूपा है। इसमें प्रश्नकर्ता हैं-ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले 6 ऋषि और उत्तर प्रदाता हैं- आचार्य पिप्पलाद। अपने जिज्ञासित विषय का ज्ञान अर्जन करने के लिए आचार्य की शरण में जाने वाले प्रसिद्ध ऋषियों का परिचय इस प्रकार

टिप्पणी-1. सूर्यस्यापत्यं सौर्यः, तस्यापत्यं सौर्यायणी अथवा सूर्यस्यापत्यं सौर्यायणः, तस्यापत्यं सौर्यायणी, ईकारः छान्दसः।

2. आश्वलस्य अश्वलस्य वाऽपत्यम् आश्वलायनः अथवा अश्वलायनस्यापत्यम् आश्वलायनः।

3. विदर्भस्यापत्यं वैदर्भिः. विदर्भे देशविशेषे भवः वा।

4. कत्यस्यापत्यं कात्यायनः कात्यायनगोत्रापत्यं वा।

है-1. भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, 2. शिबि का पुत्र सत्यकाम, 3. गर्ग के गोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी। ये तृतीय जिज्ञासु सूर्य नामक ऋषि के वंश में उत्पन्न होने से सौर्यायणी कहे गये हैं, 4. आश्वल का पुत्र कौसल्य, 5. भृगु के गोत्र में उत्पन्न वैदर्भि, ये विदर्भ के पुत्र होने से वैदर्भि कहे गये हैं। 6. कात्यायन अर्थात् कत्य का पुत्र कबन्धी नामक ऋषि। **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म** (अ.को.3.3.114) इस कोशवचन के अनुसार ब्रह्म का अर्थ तप होता है। वे ऋषि ब्रह्मनिष्ठ (तपोनिष्ठ) अर्थात् तप करने वाले थे और ब्रह्मपर अर्थात् ब्रह्मविचार करने वाले थे। **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म** इस पूर्वोक्त कोशवचन के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद भी होता है, तब ब्रह्मपराः का अर्थ है- वेद का स्वाध्याय करने वाले या वेद को परम प्रमाण मानने वाले और ब्रह्मनिष्ठाः का अर्थ है- वेदार्थ का विचार करने वाले। ब्रह्मपर और ब्रह्मनिष्ठ उन ऋषियों ने अपने अपने अध्ययन के अनुरूप परस्पर परिचर्चा करके दीर्घकाल तक विचार किया, फिर भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके अतः उन्होंने सभी संशयों के सम्यक् उन्मूलन के लिए किसी सर्वज्ञ गुरु के समीप जाने का निर्णय लिया। स्वयं के बल पर कोई भी तत्त्व को समझ नहीं सकता अतः श्रुति कहती है कि आचार्य से प्राप्त विद्या ही फल को देने में समर्थ होती है- **आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापद् इति।** (छां.उ. 4.9.3) इसलिए मुमुक्षु ब्रह्म को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही समीप जाये- **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** (मु.उ.1.2.12)। ब्रह्मविद्या के आचार्य सर्वज्ञ महर्षि पिप्पलाद हम लोगों के द्वारा जिज्ञासित परब्रह्म का उपदेश करेंगे, ऐसा विचार करके वे सभी समित्पाणि होकर शिष्यभाव से आचार्य की सन्निधि में गये।

भगवान् शब्द का अर्थ

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य इन छः को भग कहते हैं- **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा** (वि.पु. 6.5.74)। ये छः जिसमें रहते हैं, उसे भगवान् कहते हैं। पूज्य पदार्थ को

कहने के लिए परिभाषा (लक्षण) से युक्त भगवान् शब्द का परब्रह्म परमात्मा में मुख्य प्रयोग है किन्तु परमात्मा से भिन्न अर्थ में भगवान् शब्द का गौणरूप(उपचार) से प्रयोग है- **तत्र पूज्य पदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः। शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः** (वि.पु.6.5.77)। पूज्य व्यक्ति के लिए भगवान् शब्द का प्रयोग किया जाता है। समग्र ऐश्वर्य आदि गुणों वाले परमात्मा में भगवान् शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से होता है, गौणरूप से नहीं किन्तु परमात्मा से भिन्न पूज्य व्यक्ति को कहने के लिए भगवान् शब्द का उपचार से प्रयोग होता है। गौणरूप से भगवान् किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि जो सभी प्राणियों की उत्पत्ति- नाश, आना- जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है, उसे भगवान् कहते हैं- **उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति** (वि.पु.6.5.78)।। इस प्रकार महर्षि पिप्पलाद के लिए भगवान् शब्द का प्रयोग औपचारिक है।

द्वितीयो मन्त्रः

तान् ह स ऋषिरुवाच, भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः, सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।।2।।

अन्वय

ह सः ऋषिः तान् उवाच। भूयः एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः, वः ह सर्वं वक्ष्यामः इति।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- पिप्पलाद **ऋषिः**- ऋषि ने **तान्**- आये हुए उन ऋषियों को **उवाच**- कहा (कि यद्यपि आप सभी पहले से ही तपोनिष्ठ हैं, तथापि) **भूयः**- पुनः **एव**- निश्चितरूप से **तपसा**- तप से

ब्रह्मचर्येण- ब्रह्मचर्य से और **श्रद्धया**- श्रद्धा से **संवत्सरम्**- एक वर्ष तक (हमारी सेवा करते हुए सब लोग) **संवत्स्यथ**- मिलकर निवास करो इसके उपरान्त आप सभी अपनी **यथाकामम्**- इच्छा के अनुसार **प्रश्नान्**- प्रश्नों को **पृच्छत**- पूँछो। **यदि**- यदि (हम) **विज्ञास्यामः**- जानेंगे (तो) **वः**- तुम सब को **ह**- स्पष्ट रूप से **सर्वम्**- सब कुछ **वक्ष्यामः**- बताएंगे।

व्याख्या

तप और ब्रह्मचर्य आदि का विधान

अन्तःकरण निर्मल होने पर प्राप्त ब्रह्मोपदेश शीघ्र फलप्रद होता है अतः अन्तःकरण की निर्मलता के लिए और मुमुक्षा की परीक्षा के लिए महर्षि पिप्पलाद ने तप आदि का आचरण करने को कहा।

तप

शास्त्र की विधि के अनुसार कृच्छ चान्द्रायणादि व्रतों से देह को सुखाना तप कहलाता है- **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ [a] चान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः** (जा.द.उ.2.3)।। भोगों का त्याग किए विना मुमुक्षा नहीं होती किन्तु मुमुक्षु भी जीवन धारण करने के लिए शास्त्रविधि से विहित अनिवार्य भोगों का सेवन करता है अन्यथा भोजन करना, देखना, चलना-फिरना भी न होने से जीवन ही नहीं रहेगा। शास्त्रविहित जो अन्न-पानादि पदार्थ भोग हैं, उनका भी जीवन निर्वाह के लिए कम से कम उपयोग करना तप कहलाता है- **तपः शास्त्रीयो भोगसंकोचरूपः कायक्लेशः** (गी.रा.भा.10.5)। मन सहित सभी इन्द्रियाँ विविध विषयों में व्यापृत रहने के कारण व्यग्र बनी रहती हैं, उन सभी को विषयों से निग्रहीत करके मन को एकाग्र करना तप कहलाता है- **चित्तैकाग्र्यलक्षणं तपः** (श्वे.उ.रं.भा.6.21)।

ब्रह्मचर्य

स्त्रियों में भोग्यत्वबुद्धि रखकर उनका दर्शन आदि न करना ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं च योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्** (गी.

रा.भा.17.14)। स्त्रियों में भोग्यत्वबुद्धि का त्याग ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं च योषित्सु भोग्यताबुद्धिवर्जनम्।** (ता.चं.6.14) 1. स्त्रियों का चिन्तन करना, 2. उनसे रागपूर्वक बातें करना, 3. उनके साथ हास-परिहास करना, 4. उनको रागपूर्वक देखना, 5. उनसे एकान्त में बात करना, 6. मैथुन का संकल्प करना, 7. उसका निश्चय करना और 8. मैथुन करना। ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने कहे हैं - **स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः** (अ.पु.372.9-10, ब्र.बै.पु.ग.ख. 4.74)।। इस प्रकार शास्त्रों में अष्टविध मैथुन वर्णित है। इन सभी का परित्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है। इसका पालन तभी सम्भव है। जब नर-नारी अपने को आग और बारूद के समान समझकर यथासंभव दूर रहें अन्यथा ब्रह्मचर्यपालन असंभव होगा। यही कारण है कि हमारे पूर्वज वैदिक शास्त्रानुसारी भारतीय संस्कृति में नर-नारी को दूर-दूर रखते आये हैं किन्तु अब समानता के नाम पर पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित नर-नारी का दूर-दूर रहना बन्द हो रहा है, इस प्रकार ब्रह्मचर्य का लोप होता जा रहा है। छात्र-छात्राओं की सह शिक्षा मानव जाति के पतनोन्मुखी होने का मुख्य कारण है। इसी कारण शास्त्रों में कहा है कि माता, बहिन तथा पुत्री के साथ भी एक आसन पर न बैठें, ये इन्द्रियाँ बलवान हैं, विद्वानों को भी आकर्षित कर लेती हैं- **मात्रा स्वस्रा दुहिता वा नाऽविविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।** (भा.9.19.17, म.स्मृ. 2.215, ग.पु.पू.114.6, भ.पु.1.4.184, वि.ध.पु.3.233.100-101) इस श्लोक की संगति बताते हुए श्रीमद्‌भागवत के विख्यात व्याख्याकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा है- अतिविवेकी तथा अतिविद्वान् के लिए भी कामदेव पर विजय पाना कठिन है, इसलिए शास्त्रकारों ने मर्यादा का कथन किया है। निश्चय ही नारी अग्नि के समान और नर घृतपूर्ण घड़े के समान है इसलिए जितना प्रयोजन हो उसे छोड़कर अन्य समय में अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में न रहें- **नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्। सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्** (भा.7. 12.9, बृ.पु.उ.5.4)।। भागवत के इन वचनों को पढ़कर भागवतकार

महर्षि बादरायण के शिष्य जैमिनि ऋषि को भी शंका हुई थी। अपने लिखे हुए वचनों की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिए व्यास जी ने एक सुसज्जित-सुन्दर-नवयुवती का रूप धारण किया। वह ओला- आँधी-वर्षा से परेशान होकर अतिशय घबड़ाई हुई सी मुखाकृति लेकर सायंकाल जैमिनि ऋषि के आश्रम में गयी। उस समय वर्षा से भीग जाने के कारण उसकी महीन साड़ी उसके सुन्दर शरीर पर चिपक गयी थी। जिससे स्तनादि कामाङ्ग स्पष्ट दीखने लगे थे। सुन्दरी नव युवती ने जैमिनि ऋषि से रात में निवास करने की प्रार्थना की तो जैमिनि जी ने पहले तो मना कर दिया। बाद में रोकर पुनः प्रार्थना करने पर कहा कि देखो, सामने यह खाली कुटिया है, इसमें चली जाओ। भीतर से दरवाजा बन्द कर लेना, कोई भी आये, खोलना नहीं। मैं भी आऊं तो भी खोलना नहीं। ऋषि के ऐसा कहने पर वह सुन्दरी कुटिया में चली गयी, भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। बात करते समय जैमिनि ऋषि ने जो उसके स्तनादि कामाङ्गों को देखा था, उससे ऋषि के मन में भयंकर-कामविकार का सञ्चार हो गया। सारा विवेक लगाकर अपने को रोक न सके। जाकर उससे दरवाजा खोलने को कहा। युवती ने दरवाजा नहीं खोला तो अपना नाम बताया, फिर भी नहीं खोला तो जैमिनि ऋषि ऊपर से छप्पर तोड़ कर उसके पास गये। उसे स्पर्श करना चाहा तो उसने जोर से एक थप्पड़ मारा। मार खाकर भी पुनः स्पर्श करने के लिए लपके तो व्यास जी ने अपना रूप धारण कर लिया और पूछा कि मैंने जो लिखा है कि 'इन्द्रियाँ विद्वान् को भी खींच लेती हैं।' यह सत्य है या नहीं? तब जैमिनि ऋषि ने व्यासजी के चरण पकड़ कर लज्जित होकर कहा, सत्य ही नहीं, किन्तु महान् सत्य है। यह कथा मैंने सन्तों के मुख से अनेकों बार सुनी है।

श्रद्धा

आस्तिक्यबुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। वेदप्रतिपाद्य सम्पूर्ण विषयों में अत्यन्त सत्यता के निश्चय को आस्तिक्य बुद्धि कहते हैं, उसे किसी भी हेतु से विचलित नहीं कर सकते- **आस्तिक्यम् = वैदिकार्थस्य कृत्स्नस्य सत्यतानिश्चयः प्रकृष्टः, केनापि हेतुना चालयितुमशक्यः**

इत्यर्थः (गी.रा.भा.18.42)।

"तपश्चर्या करते हुए, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए और श्रद्धा से युक्त होकर सुकेशा आदि आप सभी ऋषि एक वर्ष पर्यन्त निवास करें, इसके पश्चात् अपने अभीष्ट विषय में प्रश्नों को पूछें, यदि हम उन विषयों को जानेंगे तो अवश्य उपदेश करेंगे।" ऐसा महर्षि पिप्पलाद ने आगन्तुक जिज्ञासुओं से कहा। यदि हमारे ब्रह्मवेत्ता होने में आपका सन्देह हो इसलिए 1 वर्ष तक तप, ब्रह्मचर्य आदि क्लेशसाध्य कर्मों में आपकी प्रवृत्ति न हो तो यहाँ से सुखपूर्वक चले जाइए। यह आचार्य के कथन का अभिप्राय है। इस प्रसङ्ग से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि गुरु की परीक्षा के विना ही उनकी शुश्रूषा करनी चाहिए। आचार्य की सेवा के विना विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। यदि प्राप्त हो भी गयी तो जीवन में काम नहीं आ सकती। अतः गुरु- शुश्रूषा अत्यन्त अनिवार्य है। शिष्यसंग्रह में गुरु की आदर बुद्धि नहीं होनी चाहिए, यह शिक्षा भी उक्त उपदेश से उपलब्ध होती है। चाहे ऊषर भूमि में बीज बोएं, नपुंसक के साथ कन्या का विवाह करें, वानर के गले में सुन्दर माला अर्पित करें किन्तु अपात्र को ब्रह्मविद्या प्रदान नहीं करनी चाहिए- **ऊषरे निर्वपेद् बीजं षण्डे कन्यां प्रयोजयेत्। सृजेद् वा वानरे मालां नापात्रे शास्त्रमृत्सृजेत्॥** परीक्षा के द्वारा पात्रता का निर्णय करके ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए। शिष्यों की परीक्षा के लिए **यदि विज्ञास्यामः** यह आचार्य का वचन उन (आचार्य) की सरलता को भी सूचित करता है। गुरु के आदेश का पालन करने से परीक्षा में सफलता के साथ अन्तःकरण की निर्मलता भी होती है, जिससे मुमुक्षु विद्याप्राप्ति का उत्तम अधिकारी हो जाता है।

तृतीयो मन्त्रः

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ।
भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥3॥

अन्वय

अथ कात्यायनः कबन्धी उपेत्य पप्रच्छ। 'भगवन्! इमाः ह वा

प्रजाः कुतः प्रजायन्ते', इति।

अर्थ

अथ- एक वर्ष के पश्चात् **कात्यायनः**- कत्य का पुत्र **कबन्धी**- कबन्धी नाम वाले ऋषि ने (महर्षि पिप्पलाद के) **उपेत्य**- समीप आकर **प्रपच्छ**- पूँछा (कि) **भगवन्**- हे भगवन्! **इमाः**- ये **ह वा**- प्रसिद्ध **प्रजाः**- प्रजाएं **कुतः**- किस से **प्रजायन्ते**- उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या

कबन्धी का प्रश्न

महर्षि पिप्पलाद की आज्ञानुसार समागत सुकेशा आदि सभी ऋषियों ने एक वर्ष तक तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से गुरुकुल में सेवा करते हुए निवास किया। इसके पश्चात् वे महर्षि के पास आए और उनमें कात्यायन कबन्धी ने सर्वप्रथम प्रश्न किया कि मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर तथा जंगमरूप सभी प्रजा किस कारण से उत्पन्न होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्रजा प्रत्यक्ष ज्ञात है किन्तु इनका कारण ज्ञात नहीं है अतः इनका उत्पादक कारण कौन है? इस प्रकार कबन्धी ने सृष्टि के कारण की जिज्ञासा की।

चतुर्थो मन्त्रः

तस्मै स होवाच। प्रजाकामो ह वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेति, एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥4॥

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच। ह वै प्रजाकामः प्रजापतिः। सः तपः अतप्यत। सः तपः तप्त्वा एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति। सः रयिं च प्राणं च इति मिथुनम् उत्पादयते।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता **सः**- महर्षि पिप्पलाद ने **तस्मै**- कबन्धी को

उवाच- कहा (कि) **ह वै**- प्रसिद्ध **प्रजाकामः**- प्रजा को उत्पन्न करने की कामना वाला **प्रजापतिः**[1]- परमात्मा है। सृष्टि के पूर्वकाल में **सः**- परमात्मा ने (रची जाने वाली प्रजा का) **तपः**- विचाररूप तप **अतप्यत**- किया। **सः**- परमात्मा ने (उत्पन्न की जाने वाली प्रजा का) **तपः**- विचाररूप तप **तप्त्वा**- करके **एतौ**- रयि और प्राण ये दोनों **मे**- मेरी **बहुधा**- बहुत प्रकार की **प्रजाः**- प्रजा को **करिष्यतः**- उत्पन्न करेंगे। **इति**- इस अभिप्राय से **सः**- परमात्मा ने **रयिम्**- प्रकृति **च**- और **प्राणम्**- प्राण **इति**- इस **मिथुनम्**- जोड़े को **उत्पादयते**[2]- उत्पन्न किया।

व्याख्या

परमात्मा से प्रजा की सृष्टि

इस श्रुति में आए प्रजापति शब्द का अर्थ ब्रह्मा नहीं है क्योंकि यहाँ सम्पूर्ण प्रजा की सृष्टि का प्रसङ्ग है। चतुर्मुख ब्रह्मा समग्र प्रजा की सृष्टि का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह भी प्रजा है, उसके सहित सभी की सृष्टि का जो कारण है, वह परमात्मा ही यहाँ प्रजापति शब्द का अर्थ है। जैसे निर्माणकर्ता किसी कार्य के निर्माण से पूर्व उसके विषय में विचार करता है, वैसे ही सृष्टि के पूर्वकाल में परमात्मा ने सृज्यमान प्रजा के विषय में विचार किया। परमात्मा का तप ज्ञान है- **यस्य ज्ञानमयं तपः** (मु.उ.1.1.10)। यह मुण्डक श्रुति परमात्मा के विचार (संकल्प) रूप ज्ञान को तप् कहती है। प्रजासृष्टि की कामना वाले उसने संकल्पात्मक तप को करके यह भी विचार किया कि रयि (प्रकृति) और प्राण (पुरुष) ये दोनों मेरी बहुत प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे। इस अभिप्राय से उसने रयि और प्राण की रचना की।

टिप्पणी- 1. प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजाः ब्रह्मादयः, तेषां ब्रह्मादीनां पतिः रक्षाकर्ता (स्थितिकर्ता) प्रजापतिः परमात्मा। इदं पदम् उत्पत्तिकर्तुरपि उपलक्षणम्।

2. ऋषेस्तु भवन्तीं (वर्तमानकालम्) प्रयुञ्जानस्यायमभिप्रायः। तत् मिथुनोत्पादनं भूतमपि प्रत्यक्षं वर्तमानमिव पश्यामीति। अनेन च स्वस्य तत्त्वार्थनिश्चयं सुदृढं स्थितं शिष्येभ्यः प्रकाशयति उपदिश्यमानेऽर्थे तेषां प्रत्ययदार्ढ्याय (टि.)।

शंका- वेदान्त दर्शन में अचेतन प्रकृति और चेतन जीवात्मा भी नित्य माने जाते हैं तो इनकी उत्पत्ति का कथन कैसे संगत होता है?

समाधान-प्रलयावस्था के पश्चात् सृष्टि के अनुकूल प्रकृति की अभिव्यक्ति ही प्रकृति की उत्पत्ति है और नूतन देह के साथ जीवात्मा का संयोग ही जीवात्मा की उत्पत्ति है।

पूर्व मन्त्र में वर्णित प्राण और रयि क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

पञ्चमो मन्त्रः

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च। तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।।5।।

अन्वय

ह आदित्यः वै प्राणः, चन्द्रमाः एव रयिः। यत् मूर्तं च अमूर्तं च, एतत् सर्वं रयिः वा। तस्मात् मूर्तिः रयिः एव।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **आदित्यः**- भोक्ता जीवात्मा **वै**- ही **प्राणः**- प्राण है। **चन्द्रमाः**- भोग्य प्रकृति **एव**- ही **रयिः**- रयि है। **यत्**- जो **मूर्तम्**- पृथ्वी, जल और तेज स्थूल भूत हैं। **च**- और **अमूर्तम्**- वायु और आकाश सूक्ष्म भूत हैं। **एतत्**- यह **सर्वम्**- सब (पृथ्वी आदि पञ्चभूत) **रयिः**- रयि (भोग्य) **वा**- ही है। **तस्मात्**- मूर्त और अमूर्त पाँचों भूत रयि (भोग्य) होने से (उनसे निर्मित्त) **मूर्तिः**- पाञ्चभौतिक शरीर भी **रयिः**- भोग्य **एव**- ही है।

व्याख्या

प्राण और रयि का अर्थ

भोक्ता भोग (अनुभव) करने के लिए भोग्य पदार्थों को ग्रहण करता है इसलिए उसे (भोक्ता जीव को) आदित्य कहते हैं।- **आदत्ते**

गृह्णाति भोगार्थ भोग्यवर्गम् इति आदित्यः। इस प्रकार पूर्वमन्त्र में वर्णित प्राण का अर्थ आदित्य अर्थात् भोक्ता जीव है। जीव का भोक्तृत्व प्रसिद्ध है, लोक में आदित्य का शोषणकर्तृत्वरूप भोक्तृत्व भी प्रसिद्ध है इस प्रकार भोक्तृत्वरूप समानता के कारण भी जीव का आदित्य शब्द से कथन किया गया है। भोक्ता जीव का प्राण शब्द से निर्देश करने में जो हेतु है, उसे अग्रिम मन्त्र से कहा जाएगा। आदित्य शब्द से कहे गये भोक्ता का प्रतिद्वन्दी होने से भोग्य पदार्थ का चन्द्रमा शब्द से कथन किया गया है। सभी भौग्य वस्तुएं रयि हैं- **रयिरेव चन्द्रमाः** । अब इसका ही स्पष्टीकरण करते हैं- **रयिर्वा एतत्सर्वम्........**। पृथ्वी, जल **और तेज ये स्थूलभूत मूर्त**; कहे जाते हैं और इनसे भिन्न वायु और आकाश ये सूक्ष्मभूत अमूत कहे जाते हैं। ये मूर्त और अमूर्त सभी भूत रयि अर्थात् भोग्य हैं। शरीर पाञ्चभौतिक है, उसके उपादान पृथ्वी आदि पञ्चभूत हैं, पञ्चभूत रयि होने से उससे उत्पन्न सभी शरीर रयि हैं। यद्यपि रयि शब्द के प्रसिद्ध अर्थ धन और अन्न हैं तथापि वे भी भोग्य हैं, अतः भोग्यत्वरूप समानता के कारण सभी भोग्य पदार्थ रयि कहे जाते हैं। इस कारण चन्द्रमा (के शरीर) का भी रयि शब्द से निर्देश करना उचित है। वह भी भोग्य है। जब शरीर रयि हैं, तब इनके उपादान पञ्चभूत अवश्य रयि हैं। रयि और प्राण शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का ''भोक्ता जीव प्राण है, भोग्य पदार्थ रयि हैं'', यह उत्तर उक्त मन्त्र से निष्पन्न होता है। यद्यपि यहाँ मूर्त-अमूर्त विभाग वाले पञ्चभूत ही रयि कहे गये हैं तथापि उनका भी उपादान प्रकृति ही यहाँ रयि शब्द से अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिए। **आदित्यो ह वै प्राणः** इस प्रकार उक्त मन्त्र में प्राण का उल्लेख प्रथम और रयि का उल्लेख बाद में होने पर भी रयि का निरुपण संक्षिप्त होने से उसे प्रथम निरूपित किया गया है तथा प्राण का निरूपण विस्तृत होने से उसे अगले मन्त्र में निरूपित किया जाएगा। यहाँ पर प्राण शब्द से वर्णित भोक्ता जीवात्मा गीता में परा प्रकृति कहा जाता है और यहाँ रयि शब्द से वर्णित भोग्य वहाँ अपरा प्रकृति कहा जाता है। प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि

टिप्पणी- 1. बृहदारण्यकोपनिषत् (2.3.1) में मूर्त और अमूर्त का व्याख्यान किया गया है।

ही जानो- **प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि** (गी.13.19)। **एतौ में बहुधा प्रजाः करिष्यतः** (प्र.उ.1.4) इस अभिप्राय से परमात्मा ने जीवात्मा और प्रकृति की रचना की। अनादि पदार्थ की रचना का क्या तात्पर्य है? जगत् की सृष्टि के अनुकूल जीव और प्रकृति का कुछ अवस्थान्तर करना ही उनकी सृष्टि करना है, इसके पश्चात् स्थावरजंगमरूप सम्पूर्ण जगत् (प्रजा) की सृष्टि होती है।

अब आदित्य शब्द का अर्थ भोक्ता आत्मा को प्राण शब्द से कहने में हेतु कहा जाता है-

षष्ठो मन्त्रः

अथाऽऽदित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशः, यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥6॥

अन्वय

अथ आदित्यः उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति। तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यत् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यत् उदीचीं यत् अधः यत् ऊर्ध्वं यत् अन्तरा दिशः, यत् सर्वं प्रकाशयति। तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।

अर्थ

अथ- रयि के प्रतिपादन के पश्चात् **आदित्यः**- आदित्य (आत्मा) का प्रतिपादन किया जाता है। यह जीवात्मा सुषुप्ति स्थान से **उदयन्**- जागते हुए **यत्**- जो **प्राचीम्**- पूर्व **दिशम्**- दिशा में स्थित पदार्थों को **प्रविशति**[1]- प्रकाशित करता है। **तेन**- उससे ज्ञात होता है कि **प्राच्यान्**- पूर्व दिशा में स्थित पदार्थों का प्रकाशक **प्राणान्**- इन्द्रियों को **रश्मिषु**- धर्मभूत ज्ञानरूप रश्मि से **सन्निधत्ते**- प्रेरित करता है। भोक्ता जीव **यत्**- जो **दक्षिणाम्**- दक्षिण दिशा में स्थित पदार्थों को, **यत्**- जो **प्रतीचीम्**-

---

टिप्पणी- 1. प्रविशति-प्रकाशयति जानाति इत्यर्थः।

पश्चिम दिशा में स्थित पदार्थों को **यत्**- जो **उदीचीम्**- उत्तर दिशा में स्थित पदार्थों को **यत्**- जो **अधः**- नीचे की ओर स्थित पदार्थों को **यत्**- जो **ऊर्ध्वम्**- ऊपर की ओर स्थित पदार्थों को **यत्**- जो **अन्तरा**- मध्य **दिशः**- दिशाओं (ईशान, वायव्यादि) में स्थित पदार्थों को (और) **यत्**- जो **सर्वम्**- सभी दिशाओं को भी **प्रकाशयति**- प्रकाशित करता है। **तेन**- उससे ज्ञात होता है कि(जीवात्मा) **सर्वान्**- सभी दिशाओं में स्थित पदार्थों का और सभी दिशाओं का भी प्रकाशक **प्राणान्**- इन्द्रियों को **रश्मिषु**- धर्मभूत ज्ञान से **सन्निधत्ते**- प्रेरित करता है।

व्याख्या

पूर्वमन्त्र में भोग्य प्रकृति का निरूपण किया गया था और यहाँ भोक्ता जीवात्मा का प्रतिपादन किया जा रहा है। जैसे बाज या गरुड पक्षी आकाश में सभी ओर उड़कर थकावट होने पर पंखों को फैलाकर विश्राम करने के लिए घोसले में ही आ जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा जाग्रत और स्वप्न में इधर- उधर संचरण करके थकावट होने पर विश्राम करने के लिए सुषुप्तिस्थान ब्रह्म में ही आ जाता है- **तद् यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति** (बृ.उ.4.3.19)। इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति जीव का सुषुप्तिस्थान परमात्मा को कहती है। जीव सुषुप्ति अवस्था में सुषुप्ति स्थान में रहता है और फिर वहीं से जाग्रत अवस्था में आता है। जीव सुषुप्ति से जाग्रत होते हुए **यत् प्राचीं दिशं प्रविशति**-जो पूर्व दिशा में प्रवेश करता है। शरीर के अन्दर हृदय में रहने वाले अणु आत्मा का बाहर प्रवेश करना कैसे संभव है? इसका उत्तर है कि अणु आत्मा का बाहर स्वरूपतः प्रवेश असंभव होने पर भी धर्मभूत ज्ञानद्वारा प्रवेश होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के साथ ही ज्ञान का आश्रय[1] भी है। आत्मा के आश्रित रहने वाला ज्ञान उसका धर्म

टिप्पणी- 1. इसके लिए प्रश्नोपनिषत् 4.9 की व्याख्या तथा विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में 'ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा' शीर्षक को देखना चाहिए।

(गुण या विशेषण) होने से धर्मभूत ज्ञान कहलाता है। जैसे- प्रकाशस्वरूप सूर्य की आकाश के एक स्थान में स्थिति होने पर भी उसके आश्रित रहने वाले प्रकाश (रश्मि या प्रभा) का सभी पदार्थों में प्रवेश होता है। वैसे ही आत्मा की शरीर के एक भाग हृदय स्थान में स्थिति होने पर भी उसके आश्रित रहने वाले धर्मभूत ज्ञान का बाहर स्थित पदार्थों में भी प्रवेश होता है, इस प्रकार आत्मा का बाह्य पदार्थों में ज्ञान द्वारा प्रवेश होता है। उसका धर्मभूतज्ञान द्वारा बाहर के पदार्थों में जो प्रवेश है, वह उन पदार्थों को प्रकाशित करना ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है अतः आत्मा जागते हुए **यत्**- जो **प्राचीम्**- पूर्व **दिशम्**- दिशा में स्थित पदार्थों को **प्रविशति**- प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान आत्मा के स्वरूप को ही प्रकाशित करता है किन्तु अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए उसे धर्मभूत ज्ञान की अपेक्षा होती है। आत्मा जो पूर्व दिशा में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करती है, उससे ज्ञात होता है कि पूर्व दिशा में स्थित पदार्थों का प्रकाशक इन्द्रियों को अपने धर्मभूत ज्ञान से प्रेरित करती है। हृदयस्थ अणु आत्मा की जब जाग्रत अवस्था आती है, तब आत्मा का धर्मभूतज्ञान द्वारा मन से सम्बन्ध होता है? मन का धर्मभूत ज्ञान द्वारा चक्षु से और चक्षु का धर्मभूत ज्ञान द्वारा घटादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार आत्मा धर्मभूतज्ञान द्वारा बाहर स्थित पदार्थों को जानती है। सुषुप्ति काल में इन्द्रियाँ निष्क्रिय होकर स्थित रहती हैं। जाग्रत अवस्था आते ही वे कार्य करने के लिए सक्रिय हो जाती हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ अपने- अपने विषयों के ज्ञान के लिए तैयार हो जाती हैं। इन्द्रियाँ जड़ हैं अतः उनकी स्वतः कार्य करने के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, वे चेतन आत्मा से अधिष्ठित (प्रेरित) होकर प्रवृत्त होती है। वह धर्मभूतज्ञानरूप रश्मि के द्वारा इन्द्रियों को प्रेरित करती है। इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ हैं, उनका प्रेरक भोक्ता आत्मा है इसलिए भोक्ता आत्मा को प्राण कहा जाता है। आत्मा से धर्मभूत ज्ञान द्वारा इन्द्रियाँ प्रेरित न होने पर उनसे रूपादि विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि चेतन से प्रेरित हुए विना इन्द्रियाँ कार्य करने में असमर्थ होती हैं। आत्मा **प्राणान्**- इन्द्रियों को **रश्मिषु**- धर्मभूतज्ञानरूप रश्मि में **सन्निधत्ते**- सम्यक् धारण करती है। इन्द्रियों को

सम्यक् धारण करने का अर्थ है कि इन्द्रियों को यथायोग्य कार्य करने के लिए तैयार करना। आत्मा विषय का प्रकाश करने के लिए इन्द्रियों को धर्मभूतज्ञानरूप रश्मि से प्रेरित करती है। आत्मा जाग्रत होते हुए जो दक्षिण दिशा में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करती है, उससे (प्रकाशित करने से) ज्ञात होता है कि आत्मा दक्षिण दिशा वाले पदार्थों की प्रकाशक इन्द्रियों को धर्मभूतज्ञान द्वारा प्रेरित करती है। इसी प्रकार आत्मा जो पश्चिम दिशा में स्थित पदार्थों को, जो उत्तर दिशा में स्थित पदार्थों को, जो नीचे की ओर स्थित पदार्थों को, जो ऊपर की ओर स्थित पदार्थों को, जो ईशान, वायव्य आदि मध्यवर्ती दिशाओं में स्थित पदार्थों को और जो सभी दिशाओं को भी जानती है, उससे (सब कुछ जानने से) यह ज्ञात होता है कि आत्मा सभी दिशाओं में स्थित पदार्थों को और सभी दिशाओं[1] को भी प्रकाशित करने वाली प्राण शब्द की वाच्य इन्द्रियों को धर्मभूत ज्ञान से प्रेरित करती है। इस कारण भोक्ता आत्मा को प्राण कहा जाता है।

अब ***आदित्यो ह वै प्राणः*** *(प्र.उ.1.5)। इस प्रकार पूर्व में प्राण शब्द से निर्दिष्ट तथा सुषुप्ति स्थान से जाग्रत स्थान में आने वाले भोक्ता आत्मा की ब्रह्मात्मकता का प्रतिपादन किया जाता है-*

सप्तमो मन्त्रः

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्॥7॥

अन्वय

वैश्वानरः विश्वरूपः अग्निः सः एषः प्राणः उदयते। तत् एतत् अभि ऋचा उक्तम्।

टिप्पणी- 1. दिशा आकाश से अतिरिक्त नहीं है, उसका अन्तर्भाव आकाश में होता है और आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इस विषय को 'तत्त्वत्रय' ग्रन्थ की तत्त्वविवेचनी व्याख्या और विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में देखना चाहिए।

अर्थ

वैश्वानरः- सभी नरों का अधिष्ठाता **विश्वरूपः**- सभी शरीरों वाला (तथा) **अग्निः**- ऊर्ध्व गति की प्राप्ति कराने वाला जो(पूर्व 1.4 में प्रजापति शब्द से कहा गया) ब्रह्म है। **सः**- तदात्मक (ब्रह्मात्मक) **एषः**- आत्मा **प्राणः**- भोक्ता होते हुए (सुषुप्ति से) **उदयते**- जागता है। **तत्**- प्रजापति शब्द से कथित **एतत्**- ब्रह्म को **अभि**- अभिमुख करके **ऋचा**- ऋचा के द्वारा **उक्तम्** - कहा जाता है।

व्याख्या

भोक्ता आत्मा की ब्रह्मात्मकता

चेतनाचेतन सभी पदार्थ नर कहे जाते हैं। उनके अधिष्ठाता होने से ब्रह्म वैश्वानर कहे जाते हैं-**प्रजापतिशब्दितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वेन वैश्वानरशब्दवाच्यः** (प्रका.)। भोक्ता चेतन जीवात्माएं एक-एक शरीर में रहती हैं किन्तु ब्रह्म सभी शरीरों में रहता है। अचेतन जड़ पदार्थ तथा भोक्ता चेतन जीवात्माएं ये सभी ब्रह्म के शरीर हैं, ब्रह्म इन सभी का शरीरी आत्मा है। ब्रह्म का शरीर विश्व होने से ब्रह्म विश्वरूप कहा जाता है- **विश्वं रूपं शरीरं यस्य स विश्वरूपः** (आ.भा.)। जीव को ऊर्ध्व गति की प्राप्ति कराने से ब्रह्म को अग्नि कहा जाता है- **अग्रमूर्ध्वं नयति प्रापयतीति अग्निः।** वैश्वानर, विश्वरूप तथा ऊर्ध्व गति को प्राप्त कराने वाला ब्रह्म है। मन्त्र में ब्रह्म का बोधक 'सः' पद उसी प्रकार ब्रह्मात्मक अर्थ का बोधक होता है, जिस प्रकार गीता में **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** (गीता 13.2) यहाँ पर माम् शब्द मदात्मक (ब्रह्मात्मक) अर्थ का बोधक है। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म के द्वारा नियाम्य अर्थात् ब्रह्म के शरीरभूत पदार्थ को ब्रह्मात्मक कहते हैं। जीवात्मा ब्रह्मात्मक है। वह भोक्ता होते हुए जागता है। सुषुप्तिकाल में आत्मा का स्वरूपभूत प्रकाश आत्मा को प्रकाशित करता रहता है, तब वह इससे अतिरिक्त सुखादि विषय का भोक्ता नहीं होती।

पूर्व में प्रजापति शब्द से प्रोक्त ब्रह्मस्वरूप को लक्ष्य करके अब

वक्ष्यमाण ऋक् मन्त्र से कहते हैं।

अष्टमो मन्त्रः

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिश्शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥8॥

अन्वय

विश्वरूपं जातवेदसं परायणं ज्योतिः एकं तपन्तं हरिणं वर्तमानः सहस्ररश्मिः प्रजानां प्राणः एषः सूर्यः शतधा उदयति।

अर्थ

विश्वरूपम्- सर्वशरीरक **जातवेदसम्**[1]- सभी ज्ञानों के उत्पादक **परायणम्**- परम प्राप्य **ज्योतिः**- प्रकाशक **एकम्**- अद्वितीय **तपन्तम्**- तपाने वाले अर्थात् ऊष्मा प्रदान करने वाले **हरिणम्**[2] - हरि (परमात्मा) का **वर्तमानः**- अनुसरण करने वाला **सहस्ररश्मिः**[3]- अनेक विषयों के ज्ञान वाला **प्रजानाम्**- स्थावर-जंगमरूप शरीरों (में विद्यमान इन्द्रियों) को **प्राणः**- प्रेरित करने वाला **एषः**- यह **सूर्यः**- भोक्ता आत्मा **शतधा**- देव, मनुष्यादि नाना प्रकार की देहात्मबुद्धि वाली होकर (सुषुप्ति स्थान से) **उदयति**- जागती है।

व्याख्या

भोक्ता आत्मा परमात्मा का अनुवर्ती

परमात्मा चेतनाचेतनरूप सभी शरीर वाला है। भोक्ता आत्मा के सभी प्रकार के ज्ञानों का उत्पादक परमात्मा है। परमात्मा से अनादि ज्ञान का प्रसार होता है- **प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी** (श्वे.उ.4.18)। मुझ

टिप्पणी- 1. जातानि वेदांसि ज्ञानानि यस्मात् स जातवेदाः, तं जातवेदसं सकलज्ञानकारणम् इत्यर्थः।

2. हरिशब्दस्य नान्तत्वं छान्दसम्।

3. सहस्रं नानाविधविषयविषया रश्मयो धर्मभूतज्ञानरूपा यस्य स सहस्ररश्मिः, नानाविधविषयविषयकज्ञानवान् इत्यर्थः।

परमात्मा से ही स्मृतिरूप तथा अनुभवरूप सभी ज्ञान होते हैं- **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम्** (गी.15.15) मुमुक्षुओं का परम प्राप्य परमात्मा ही है। वह जगत् के प्रकाशक सूर्यादि का भी प्रकाशक[1] है- **ज्योतिषां ज्योतिः** (बृ. उ.4.4.16)। वह परमात्मा शरीर की स्थिति के लिए अपेक्षित ऊष्मा प्रदान करने वाला है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि सभी प्राणियों की देह में स्थित मैं (परमात्मा) वैश्वानर (जाठराग्नि) होकर प्राण-अपान से युक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ- **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी. 15.14)। इस प्रकार परमात्मा की जाठराग्निरूप से शरीर में स्थिति कही गयी है। जाठराग्निरूप से विद्यमान परमात्मा पादतल से लेकर मस्तक तक जीव की देह को ऊष्मा (ताप) प्रदान करते हैं- **संतापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्** (तै.ना.उ.99)। शरीर की स्थिति के लिए ऊष्मा अपेक्षित होती है। जब वैश्वानररूप से स्थित भगवान् शरीर को ऊष्मा प्रदान करना बन्द कर देते हैं, तब मृत्यु हो जाती है। परमात्मा एक अर्थात् अद्वितीय हैं। अद्वितीय का अर्थ है- अपने समान तथा अपने से अधिक द्वितीय से रहित। ऐसे परमात्मा का अनुवर्ती भोक्ता आत्मा है। जैसे भोक्ता आत्मा का अनुवर्ती अचेतन देह है अर्थात् भोक्ता आत्मा के विना अचेतन देह नहीं रह सकती है, वैसे ही परमात्मा का अनुवर्ती चेतन भोक्ता है अर्थात् परमात्मा के विना भोक्ता आत्मा नहीं रह सकती है क्योंकि वह भी परमात्मा का शरीर है और शरीर की शरीरी आत्मा के विना स्थिति संभव नहीं। इस प्रकार भोक्ता आत्मा परमात्मा का अनुवर्ती अर्थात् शरीर कहा जाता है। भोक्ता आत्मा सहस्ररश्मि अर्थात् विविध विषयों के ज्ञानरूप रश्मिवाला है, इसलिए उसे सहस्ररश्मि कहते हैं। इसका अर्थ है- विविध विषयों का ज्ञाता। वह स्थावरजंगमरूप शरीरों में विद्यमान इन्द्रियों का प्राण अर्थात् प्रेरक है। प्रस्तुत प्रश्नोपनिषत् (1. 6) प्राण शब्द से इन्द्रियाँ कही गयी थीं और उनका प्रेरक होने से भोक्ता आत्मा भी प्राण कहा गया था। मन्त्र (1.5 और 1.6) में

टिप्पणी-1. इस विषय को कठोपनिषत् (2.2.15) की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में देखना चाहिए।

आदित्य शब्द से भी भोक्ता आत्मा कही गयी थी और यहाँ (1.8 में) उसके पर्याय सूर्य शब्द से कही जा रही है। सुषुप्ति में देहात्मबुद्धि नहीं रहती किन्तु जीवात्मा सुषुप्तिस्थान से नाना प्रकार की देहात्मबुद्धि वाला होकर जागता है। बालक हो या वृद्ध, सम्राट हो या भिखारी, ज्ञानी हो या अज्ञानी। सबकी सुषुप्ति अवस्था समान होती है। सुषुप्ति में जिसने महाराजत्व को छोड़ा था, वह जागने पर पुनः अपने को महाराजा मानने लगता है, जिसने दरिद्रता को छोड़ा था, वह पुनः अपने को दरिद्र मानने लगता है।

सुषुप्ति अवस्था में सत् ब्रह्म में स्थित हुए जीव सुषुप्ति से पूर्व जाग्रत अवस्था में बाघ, शेर, भेडिया, कीट, पतंग, दंश अथवा मच्छर आदि जिस-जिस देह में आत्मबुद्धि करके स्थित होते हैं, वे मैं बाघ हूँ इत्यादि रीति से उस-उस देह में आत्मबुद्धि करके जाग्रत होते हैं- **त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति** (छां.उ.6.10.2)। इस प्रकार सुषुप्ति में देहात्मबुद्धि की वासना रहती है अतः भोक्ता चेतन 'मैं गृहस्थ हूँ, मैं सन्यासी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ', इत्यादि प्रकार की देहात्मबुद्धि वाले होकर सुषुप्ति स्थान से जागते हैं। **सूर्यः**-भोक्ता आत्मा **शतधा**-नाना प्रकार की देहात्मबुद्धि वाला होकर (सृष्टिकाल में) **उदयति**- उत्पन्न होता है, ऐसा भी अर्थ होता है। सृष्टिचक्र अनादि है अतः पूर्व कल्प में अनुभूत विषयों की सूक्ष्म वासनाओं के कारण वैसे होकर सृष्टि काल में उत्पन्न होते हैं।

पूर्व में रयि और प्राण शब्द से वर्णित अचेतन प्रकृति (अचित्) और चेतन पुरुष (चित्) सदा परमात्मा के विशेषण (आश्रित) होकर रहते हैं। वे सृष्टि के पूर्व कारणत्वावस्था में नामरूपविभाग से रहित होने के कारण सूक्ष्म कहलाते हैं और इसके पश्चात् कार्यत्वावस्था में नामरूपविभाग से युक्त होने के कारण स्थूल कहलाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म प्रकृति-पुरुषविशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल प्रकृति-पुरुषविशिष्ट वही ब्रह्म कार्य है। परमात्मा के अपृथक्सिद्धविशेषण प्रकृति-पुरुष सदा उनके शरीर होकर ही रहते है। परमात्मा का शरीर पृथ्वी है- **यस्य पृथिवी शरीरम्** (बृ.उ.3.7.7)। परमात्मा का शरीर प्रकृति है- **यस्य**

का **उपासते**- अनुष्ठान करते हैं। **ते**- वे **चान्द्रमसम्**- चन्द्रमा के **लोकम्**- लोक को **एव**- ही **अभिजन्यन्ते**- प्राप्त करते हैं। **ते**- इष्टापूर्त कर्मों से चन्द्रलोक प्राप्त करने वाले **एव**- ही **पुनः**- पुनः **आवर्तन्ते**-मृत्युलोक को प्राप्त करते हैं। **तस्मात्**- उस कारण **प्रजाकामाः**- सन्तान आदि क्षुद्रफलों की कामना करने वाले **एते**- कर्मी **ऋषयः**[1]- ऋषि **दक्षिणम्**- दक्षिणायन मार्ग को **प्रतिपद्यन्ते**- प्राप्त करते हैं। **एषः**- यह **यः**- जो **ह वै**- प्रसिद्ध **पितृयाणः**- दक्षिणायन है। वह **रयिः**- विषयसुख प्रदान करने वाला है।

व्याख्या

कर्मियों की पुनरावृत्ति

द्वादश मास के काल को संवत्सर कहते हैं। 1 संवत्सर=12 मास। परमात्मा सबका अन्तरात्मा है। संवत्सररूप काल का अन्तरात्मा परमात्मा होने से संवत्सर को परमात्मा कहा जाता है। जैसे 'सब कुछ परमात्मा ही है। यह कथन उपपन्न होता है, वैसे ही काल परमात्मा ही है।' यह कथन भी उपपन्न होता है। द्वादश मास वाले संवत्सर के दो अयन होते हैं- छः मास का उत्तरायण और छः मास का दक्षिणायन। सूर्य की गति के आधाररूप ये दो मार्ग हैं, उनमें छः मास तक सूर्य उत्तरायण मार्ग में चलता है और छः मास दूसरे मार्ग में। उस संवत्सरात्मक काल में जो सकाम भाव से श्रौतस्मार्त कर्म और दान कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे मरकर चन्द्रलोक को ही प्राप्त करते हैं। वहाँ पुण्य कर्मों का फल सातिशय सुख भोग कर पुण्य कर्म क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं। **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**(गी.9.21)। उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक जाने वाले ब्रह्मोपासक वहाँ से पुनः नहीं आते हैं। सन्तान, सम्मान, सम्पत्ति तथा स्वर्ग आदि के साधनरूप से जो कर्म किये जाते हैं, उनसे उन फलों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग के साधनभूत कर्म स्वर्गलोक से मृत्युलोक में पुनः आगमन के हेतु होते हैं। उन कर्मों का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य मरकर स्वर्ग

टिप्पणी- 1. ऋषयः क्षुद्रफलद्रष्टारः (प्रका.)।

भोगने के लिए दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त करते हैं। यह जो प्रसिद्ध पितृयान अर्थात् दक्षिणायन है, वह स्वर्ग लोक ले जाकर विषयभोग प्रदान करने वाला है। मन्त्र (1.5) में चन्द्रमा अर्थात् भोग्य पदार्थों को रयि कहा गया था और यहाँ चन्द्रमा के लोक में जाकर भोग्य पदार्थों के भोग का साधन होने से दक्षिणायन मार्ग को रयि कहा जाता है।

दशमो मन्त्रः

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य आदित्यमभिजयन्ते। एतद् वै प्राणानामायतनम् एतदमृतमभयम् एतत्परायणम्, एतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। तदेष श्लोकः॥10॥

अन्वय

अथ तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानम् अन्विष्य उत्तरेण आदित्यम् अभिजयन्ते। एतत् वै प्राणानाम् आयतनम्, एतत् अमृतम् अभयम्। एतत् परायणम्। एतस्मात् पुनः न आवर्तन्ते इति एषः निरोधः। तत् एषः श्लोकः।

अर्थ

अथ[1]- अब दक्षिणायन की अपेक्षा अन्य मार्ग का निरूपण किया जाता है। ब्रह्मोपासक **तपसा**[2]- तप से **ब्रह्मचर्येण**[3]- ब्रह्मचर्य से **श्रद्धया**- श्रद्धा से (और) **विद्यया**- प्रत्यगात्मविद्या से (साध्य) **आत्मानम्**- परमात्मा की **अन्विष्य**[4]- उपासना करके (देहत्याग के पश्चात्) **उत्तरेण**- उत्तरायण मार्ग से **आदित्यम्** - आदित्यलोक को **अभिजयन्ते**- प्राप्त करते हैं। **एतत्**- उपास्य परमात्मा **वै**- ही **प्राणानाम्**- आत्माओं का **आयतनम्**- आधार है। **एतत्**- यह (परमात्मा ही) **अमृतम्**- निरतिशय

टिप्पणी- 1. अथशब्दः वाक्यान्तरोपक्रमे (प्रका.)।
2. तपसेति विहितानुष्ठानम् अभिप्रेतम् (टि.)।
3. ब्रह्मचर्येणेति निषिद्धवर्जनमभिप्रेतम् (टि.)।
4. इहान्वेषणेन उपासनं लक्ष्यते (टि.)।

भोग्य है (और) **अभयम्**- भय से रहित है, **एतत्**- यह (परमात्मा ही) **परायणम्**- परम प्राप्य है। **एतस्मात्**- उत्तरायण मार्ग से (जाने वाले ब्रह्मोपासक)**पुनः**-फिर(इस संसार में) **न**-नहीं **आवर्तन्ते**- आते हैं। **इति**- इस प्रकार वर्णित (उत्तरायण से प्राप्य) **एषः**- प्रजापति परमात्मा इस संसार में पुनः आगमन को **निरोधः**- रोकने वाला है। **तत्**- संवत्सररूप प्रजापति के विषय में **एषः**- वक्ष्यमाण **श्लोकः**- मन्त्र है।

व्याख्या

ब्रह्मोपासकों की अपुनरावृत्ति

पूर्व मन्त्र में पुण्य कर्म का फलभोग करने के लिए चन्द्रलोक जाने के दक्षिणायन मार्ग का निरूपण किया गया था, अब ब्रह्मोपासना का फल मोक्ष (ब्रह्म का अनुभव करने) प्राप्त करने के लिए त्रिपाद्विभूति जाने के उत्तरायण[1]मार्ग का निरूपण किया जाता है। हम सन्तान से किस प्रयोजन को प्राप्त करेंगे - **किं प्रजया करिष्यामः** (बृ.उ.4.4.22), ऐसे विचारों से जिनकी पुत्र, धन और स्वर्गफल की कामना निवृत्त हो गयी है, वे रागरहित मुमुक्षु तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का आचरण करते हैं। तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा की व्याख्या पूर्व (1.2) में की जा चुकी है। महर्षि पिप्पलाद ने तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का आचरण करते हुए एक वर्ष अपनी सन्निधि में निवास करने को कहा था क्योंकि उनका आचरण करने वाला ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। जो मुमुक्षु ब्रह्मविद्या और कर्म दोनों को अङ्गाङ्गिभाव से अनुष्ठेय जानता है, वह कर्म से ब्रह्मविद्या के प्रतिबन्धक प्राचीन कर्मों का अतिक्रमण करके विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है- **विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।** (ई.उ.11) जो मुमुक्षु विद्या और निषिद्ध की निवृत्ति दोनों को अङ्गाङ्गिभाव से अनुष्ठेय जानता है, वह निषिद्धनिवृत्ति से ब्रह्मविद्या के प्रतिबन्धक कर्मों का अतिक्रमण करके विद्या से मोक्ष प्राप्त करता है - **सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्**

टिप्पणी-1. उत्तरायण मार्ग को अर्चिरादि मार्ग भी कहते हैं, इसे विस्तार से जानने के लिए ' विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ देखना चाहिए।

वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥(ई.उ.14) ये ईशावास्योपनिषद् मन्त्र क्रम से विहित कर्म को और निषिद्ध कर्म की निवृत्ति को ब्रह्मविद्या का अङ्ग कहते हैं। मोक्ष के प्रतिबन्धक कर्म ब्रह्मविद्या से निवृत्त होते हैं और ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति के प्रतिबन्धक जो कर्म हैं, वे विहित कर्म के अनुष्ठान से और निषिद्ध कर्म की निवृत्ति से निवृत्त होते हैं। अतः प्रस्तुत उपनिषत् में तप से कायक्लेशादिरूप तप के साथ विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों को लेना चाहिए तथा ब्रह्मचर्य से स्त्रीसङ्ग के त्याग के साथ अन्य निषिद्ध कर्मों के त्याग को भी लेना चाहिए। ब्रह्मविद्या का अङ्ग, प्रत्यगात्मविद्या है। इससे अपने प्रत्यगात्मस्वरूप का साक्षात्कार करके उसमें अन्तरात्मरूप से विद्यमान सर्वात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए मुमुक्षुगण ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार आत्मविद्या से साध्य ब्रह्मविद्या है। यही ब्रह्मोपासना है। ब्रह्म की साक्षात्कारात्मिका उपासना करके ब्रह्मवेत्ता मृत्यु के अनन्तर उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति के द्वार आदित्यलोक को प्राप्त करते हैं। आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को और वह विद्युत नामक अमानव पुरुष मुक्तात्माओं को ब्रह्म के समीप पहुँचाता है- **आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयति** (छां.उ.4.15.5.-6) इस प्रकार ब्रह्मोपासक उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति के द्वारभूत आदित्य से ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

यह परमात्मा ही जीवात्माओं का आधार है। जैसे- रथ के चक्र (पहिए) की नेमि अरों में अर्पित होती है। (अर्थात् अरों के आधार पर टिकी रहती है) और अर नाभि में अर्पित होते हैं, इसी प्रकार ये अचेतन पदार्थ चेतनों में अर्पित हैं (अर्थात् चेतनों के आश्रित रहते हैं) और सभी चेतन आत्माएं परमात्मा में अर्पित होती हैं- **तद् यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिताः, एवमेवैताः भूतमात्राः, प्रज्ञामात्राष्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः** (कौ.उ.3.61)। इस प्रकार कौषीतकी श्रुति भी सभी आत्माओं का आधार परमात्मा को कहती है। वह निरुपाधिक भोग्य (अनुभाव्य) है, सांसारिक पदार्थ कर्मरूप उपाधि के कारण भोग्य होते हैं, उनके विना नहीं किन्तु परमात्मा स्वाभाविकरूप से सबका भोग्य है।

कर्म तो उसके भोग्य होने में प्रतिबन्धक हैं। प्रतिबन्धक न होने पर वह सदा अनुभाव्य होता है। परमात्मा भय से रहित है अर्थात् जैसे स्वर्गसुख विनाशी होने के कारण भय (दुःख) से युक्त होता है अर्थात् स्वर्ग प्राप्त होने पर भी वहाँ से च्युत होने का भय रहता है, वैसे सुखरूप परमात्मा विनाशी न होने के कारण भय से रहित है अर्थात् सुखरूप परमात्मा प्राप्त होने पर कोई भय नहीं रहता। वह मुमुक्षुओं का परम प्राप्य है, उससे भिन्न कोई प्राप्य नहीं है। ब्रह्मोपासक उत्तरायण से ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्म को प्राप्त करके पुनः इस संसार में नहीं आते हैं- **एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते नावर्तन्ते।**(छां.उ.4.15.6) ऐसा छान्दोग्य श्रुति भी कहती है।

त्रिपाद्विभूति गये हुए मुक्तात्माओं का इस लोक में पुनः आगमन का निवारण करने वाले परमात्मा ही हैं। उनके विषय में आगे कहा जाने वाला यह मन्त्र है-

एकादशो मन्त्रः

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥11॥

अन्वय

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव परे अर्द्धे पुरीषिणम् आहुः। अथ अन्ये परे इमे उ सप्तचक्रे षडरे विचक्षणम् अर्पितम् इति आहुः।

अर्थ

कालतत्त्ववेत्ता संवत्सररूप परमात्मा को **पञ्चपादम्**- पाँच पाद वाला **पितरम्**- सब का उत्पादक **द्वादशाकृतिम्**- द्वादशमासरूप आकृतिवाला **दिवः**- अन्तरिक्षलोक से **परे**- ऊपरी **अर्द्धे**- स्थान में विद्यमान् (तथा) **पुरीषिणम्**[1]- वर्षा करने वाला **आहुः**- कहते हैं। **अथ**- और (पूर्वोक्त से) **अन्ये**- भिन्न **परे**- श्रेष्ठ **इमे**- कालतत्त्ववेत्ता

टिप्पणी-1. पुरीषं जलं वृष्टिरूपेण कार्यमस्यास्तीति पुरीषी तम, जलवृष्टिकारकत्वाद् अयं पुरीषी (आ.भा.)।

उ- ही **सप्तचक्रे**- सात चक्र (पहिए) वाले (और) **षडरे**- छः अर वाले संवत्सररूप परमात्मा में (जगत्) **विचक्षणम्**- निश्चल **अर्पितम्**- स्थापित है **इति**- ऐसा **आहुः**- कहते हैं।

व्याख्या

परमात्मा की संवत्सररूपता

एक संवत्सर में हेमन्त, वसन्त, शिशिर, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ये 6 ऋतु होती हैं। हेमन्त और शिशिर में शीत की अधिकता के कारण समानता है अतः इन दोनों को एक मानने पर पाँच ऋतु कही जाती हैं। पाँच ऋतुरूप पाद वाला संवत्सररूप प्रजापति है। वह सब की उत्पत्ति का कारण है। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन ये द्वादश राशियाँ होती हैं। इनमें सूर्य के संक्रमण से चैत्रादि[1] द्वादश मास होते हैं। वह द्वादशमासरूप आकृतिवाला संवत्सररूप परमात्मा है। वह अन्तरिक्ष लोक के ऊपरी भाग में विद्यमान है और वर्षा करने वाला है। आदित्यरूप परमात्मा की वृष्टिकारणता प्रसिद्ध है। इस प्रकार काल रहस्यवेत्ता संवत्सररूप परमात्मा को पाँच पाद वाला, द्वादश आकृति वाला, सब का उत्पादक, अन्तरिक्ष के ऊर्ध्व भाग में विद्यमान तथा वृष्टि का हेतु कहते हैं- सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये सप्त ग्रह होते हैं। हेमन्त आदि छः ऋतु होती हैं। सप्त ग्रहरूप चक्र वाले, छः ऋतुरूप अर वाले रथरूप संवत्सरात्मक परमात्मा में जगत् निश्चलरूप में स्थित है,ऐसा श्रेष्ठ कालतत्त्ववेत्ता कहते हैं। जगत् पूर्णतः कालरूप परमात्मा के अधीन है, कभी भी उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। दिवसभेद, पक्षभेद, मासभेद और अयनभेद का निर्वाहक संवत्सरात्मक परमात्मा ही है।

जैसे संवत्सरात्मक प्रजापति का रयि[2] और प्राणरूप विभाग

टिप्पणी- 1. चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, आग्रहायण, पौष, माघ और फाल्गुन ये द्वादश मास होते हैं।

2. प्रश्नोपनिषद् में **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्र.उ.1.9)। इस प्रकार दक्षिणायन को रयि शब्दतः कहा है और इससे उत्तरायण को प्राण कहना अर्थतः सिद्ध है।

किया गया था, वैसे ही मासात्मक प्रजापति का रयि और प्राणरूप विभाग चिन्तन के लिए कहा जाता है-

द्वादशो मन्त्रः

मासो वै प्रजापतिः। तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः, शुक्लः प्राणः। तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन् ॥12॥

अन्वय

मासः प्रजापतिः वै। तस्य कृष्णपक्षः एव रयिः, शुक्लः प्राणः। तस्मात् एते ऋषयः शुक्ले इष्टिं कुर्वन्ति। इतरे इतरस्मिन्।

अर्थ

मासः- मास **प्रजापतिः**- परमात्मा **वै**- ही है। **तस्य**- मासाख्यकालरूप परमात्मा का **कृष्णपक्षः**- कृष्णपक्ष **एव**- ही **रयिः**- भोग्य है। (और उसका) **शुक्लः**- शुक्लपक्ष **प्राणः**- भोक्ता है। **तस्मात्**- शुक्ल पक्ष उत्कृष्ट होने के कारण **एते**- शुक्ल पक्ष को उत्कृष्ट समझने वाले **ऋषयः**- ऋषि **शुक्ले**- शुक्लपक्ष में **इष्टिम्** - यागादि शुभकर्म को **कुर्वन्ति**- करते हैं। (और) **इतरे**- अज्ञानी मनुष्य **इतरस्मिन्**- निकृष्ट कृष्ण पक्ष में यागादि शुभकर्म को करते हैं।

व्याख्या

परमात्मा की मासरूपता

प्रजापति (परमात्मा) मासाख्य काल का अन्तरात्मा है, इसलिए मास को प्रजापति कहा जाता है। उसके दो विभाग होते हैं- शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष। उनमें कृष्णपक्ष रयि अर्थात् भोग्य है और शुक्लपक्ष प्राण अर्थात् भोक्ता है। इसलिए (भोग्य पदार्थ से भोक्ता श्रेष्ठ होने के कारण) शुक्लपक्ष श्रेष्ठ है। इसे जानने वाले ऋषिगण शुक्लपक्ष में यागादि शुभ कर्म को करते हैं और अन्य अज्ञानी लोग कृष्णपक्ष में उन कर्मों को करते हैं।

अब चिन्तन के लिए अहोरात्र का भी प्राण और रयिरूप विभाग बताते हैं-

त्रयोदशो मन्त्रः

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते । ब्रह्मचर्यमेव तत्, यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥13॥

अन्वय

अहोरात्रः प्रजापतिः वै, तस्य अहः एव प्राणः, रात्रिः एव रयिः। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, एते प्राणं वा प्रस्कन्दन्ति। रात्रौ रत्या यत् संयुज्यन्ते, तत् ब्रह्मचर्यम् एव।

अर्थ

अहोरात्रः- दिन-रात **प्रजापतिः**- प्रजापति **वै**- ही है। **तस्य**- अहोरात्रात्मक प्रजापति का **अहः**- दिन **एव**- ही **प्राणः**- प्राण है। (और उनकी) **रात्रिः**- रात **एव**- ही **रयिः**- रयि है। **ये**- जो **दिवा**- दिन में **रत्या**[1]- आनन्द के लिए (स्त्री से) **संयुज्यन्ते**- संयुक्त होते हैं। **एते**- ये लोग (अपने) **प्राणम्**- प्राण को **वा**- ही **प्रस्कन्दन्ति**- अत्यन्त क्षीण करते हैं। **रात्रौ**- रात्रि में **रत्या**- आनन्द के लिए **यत्**- जो (स्त्री से) **संयुज्यन्ते**- संयुक्त होना है। **तत्**- वह **ब्रह्मचर्यम्**- ब्रह्मचर्य **एव**- ही है।

व्याख्या

अहोरात्र अर्थात् 24 घंटे का दिन-रात परमात्मा ही है। उसका दिन ही प्राण है और रात ही रयि है। जो मनुष्य दिन में आनन्द के लिए स्त्री सहवास करते हैं, वे अपने प्राणों को प्रकर्षता से क्षीण करते हैं। मन

टिप्पणी- 1. प्रयोजनस्य हेतुत्वविवक्षया तृतीया।

की एकाग्रता प्राण के अधीन है, प्राण के क्षीण होने से मन व्यग्र होता है और ऐसा होने पर अन्य इन्द्रियाँ भी चंचल और अस्थिर हो जाती हैं। जिससे परमात्मप्राप्ति के पथ पर चलना तो दूर रहा अपितु ऐहिक जीवन भी अशान्तिमय हो जाता है। प्राण के ही अधीन प्राणी का जीवन है, प्राण के क्षीण पर उसका स्वाास्थ्य और आयु भी क्षीण हो जाती है। गृहस्थ मनुष्यों का जो आनन्द के लिए रात में संभोग करना है, वह ब्रह्मचर्य[1] का पालन ही है। रात्रि में स्त्रीसहवास करने पर उतनी हानि नहीं होती।

अन्न का परिणाम वीर्य ही प्रजा का उपादान देखा जाता है तो प्रकृतिपुरुषकालात्मक परमात्मा[2] प्रजा का उपादान कैसे हो सकता है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं –

चतुर्दशो मन्त्रः

अन्नं वै प्रजापतिः, ततो ह वै तद् रेतः, तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥14॥

टिप्पणी- 1. रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह दिन पर्यन्त स्वाभाविक ऋतुकाल होता है। इनमें आरम्भ की चार रात्रि और ग्यारवीं तथा तेरहवीं रात्रि मैथुन के लिए सर्वथा वर्जित हैं। शेष दश रात्रियों में पर्व (एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा,ग्रहण, व्यतिपात, संक्रान्ति, रामनवमी, जन्माष्टमी और शिवरात्रि आदि) दिनों को छोड़कर विवाहित पत्नी की रति के लिए जो पुरुष महीने में केवल दो बार संभोग करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला माना जाता है (म. स्मृ.3.45-47,50)। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के लिए सर्वथा स्त्रीसहवास वर्जित है।

2. परमात्मा ने रयि (प्रकृति) और प्राण (पुरुष) के मिथुन को उत्पन्न किया, ऐसा इसी उपनिषद् (1.4) में कहा था, उनमें से एक प्राण को (1.8) में विश्वरूप अर्थात् सर्वशरीरक प्रजापति कहा था, उससे रयि की भी प्रजापतिरूपता सिद्ध है। कार्यरूप रयि और प्राण के अन्तरात्मारूप से स्थित होने से ही प्रजापति भी कार्य प्रतीत होते हैं। यह प्रजापति को कार्य जगत् का उपादान होने पर ही संभव है, जैसे घट का उपादान मिट्टी होने से घट को मिट्टी कहते हैं, वैसे ही कार्य प्राण और रयि का उपादान प्रजापति होने से प्राण और रयि को प्रजापति कहते हैं।

अन्वय

अन्नं प्रजापतिः वै, ततः ह वै तत् रेतः, तस्मात् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति।

अर्थ

अन्नम्- अन्न **प्रजापतिः**- प्रजापति **वै**- ही है। **ततः**- खाये गये अन्न से **ह वै**- प्रसिद्ध **तत्**- वह (प्रजापतिरूप) **रेतः**- वीर्य उत्पन्न होता है। (और) **तस्मात्**- वीर्य से **इमाः**- ये सभी **प्रजाः**- प्रजाएं **प्रजायन्ते**- उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या

कबन्धी कात्यायन ने पूँछा कि हे भगवन! यह प्रजा किससे उत्पन्न होती है- **भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति** (प्र. उ.1.3) इस प्रश्न के अनुरूप महर्षि पिप्पलाद ने- **प्रजाकामो ह वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते..........।** (प्र.उ.1.4.) यह उत्तर कहकर मध्य में प्रजापतिकृत सृष्टि के प्रसङ्ग को कहते हुए प्रकृति-पुरुष- संवत्सर-अयन-मास-पक्ष-अहोरात्र-अन्न तथा रेतरूप प्रजापति से सभी प्रजा उत्पन्न होती है। इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र से कहते हैं। चेतन और अचेतन सभी पदार्थ प्रजापति के शरीर हैं। शरीरबोधक शब्द शरीर अर्थ का बोध कराते हुए उसमें रहने वाले चेतन आत्मा के भी बोधक होते हैं। जैसे- चैत्र, मैत्र इत्यादि शरीरबोध क शब्द उन-उन मनुष्यशरीरों का बोध कराते हुए उनके आत्मा का भी बोध कराते हैं वैसे ही अन्न शब्द अन्न शरीर का बोध कराते हुए उसमें रहने वाले चेतन आत्मा का और उसमें भी रहने वाले परमात्मा का बोध कराता है। इस अभिप्राय से कहा जाता है कि अन्न प्रजापति ही है। इसी प्रकार 'वीर्य प्रजापति है।' यह भी जानना चाहिए। खाए हुए अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है और उसका स्त्री में सेचन करने पर मनुष्य, पशु आदि प्रजा उत्पन्न होती है। अन्न से उत्पन्न जो वीर्य है, वह भी प्रजापति शब्द से कहा गया ब्रह्म ही है। अतः प्रकृति- पुरुष- संवत्सर- अयन- मास -पक्ष- अहोरात्र- अन्न तथा रेतरूप प्रजापति से सभी प्रजा उत्पन्न होती

है। इस प्रकार प्रजापति ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध होता है।

कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। इस प्रश्न को करने वाले कबन्धी कात्यायन का यह अभिप्राय है- स्त्री और पुरुष के मिलने से प्रजा उत्पन्न होती है, यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है किन्तु परब्रह्म से प्रजा की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है अतः परब्रह्म से प्रजा की उत्पत्ति को मैं कैसे समझूँ। इस पर कहा जाता है कि परमात्मा प्रकृति और पुरुष को उत्पन्न करके उनके आत्मारूप से स्थित रहते हैं। संवत्सर आदि के आत्मारूप से वर्तमान होकर ऋतुओं के अनुकूल वर्षा, शीत तथा आतप को करते हुए अन्न को उत्पन्न करके उसमें विद्यमान जीव के भी आत्मारूप से स्थित रहते हैं। अन्न खाकर पुष्ट हुआ मनुष्य जब स्त्री से संयुक्त होता है, तब वीर्य में स्थित ब्रह्मात्मक आत्मा स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट होकर कालान्तर में प्रजारूप से उत्पन्न होती है। इसलिए ब्रह्म से प्रजा उत्पन्न होती है, अन्न से उत्पन्न होती है, माता-पिता से उत्पन्न होती है और वीर्य से उत्पन्न होती है, इन कथनों में पारस्परिक विरोध नहीं है। आचार्य के द्वारा विस्तार से उत्तर देने का यह अभिप्राय है।

अब प्रसङ्गानुसार अमुमुक्षु की निन्दा करते हुए मुमुक्षु की प्रशंसा की जाती है-

पञ्चदशो मन्त्रः

तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोकः। येषां तपो ब्रह्मचर्यम्, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥15॥

षोडशो मन्त्रः

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः, न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥16॥

अन्वय

तत्, ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति। ते मिथुनम् उत्पादयन्ते। तेषाम् एव एषः ब्रह्मलोकः। येषां तपः ब्रह्मचर्यम्, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्,

येषु जिह्मं न, अनृतं च माया न। तेषाम् असौ विरजः ब्रह्मलोकः इति[1]।

अर्थ

तत्- उस कारण **ये**- जो मनुष्य **ह वै**- प्रसिद्ध **तत्**- उस **प्रजापतिव्रतम्**- अन्नभक्षण का (नियत कर्तव्यरूप से) **चरन्ति**- अनुष्ठान करते हैं। **ते**- वे **मिथुनम्**- पुत्र-पुत्रीरूप प्रजा को **उत्पादयन्ते**- उत्पन्न करते हैं। **तेषाम्**- उनके लिए **एव**- ही **एषः**- यह **ब्रह्मलोकः**[2]- पुत्रपशु आदि कार्यरूप ब्रह्मात्मक फल है। **येषाम्**- जिन का **तपः**- तप है, **ब्रह्मचर्यम्**- ब्रह्मचर्य है, **येषु**- जिनमें **सत्यम्**- सत्य **प्रतिष्ठितम्**- प्रतिष्ठित है, **येषु**- जिनमें **जिह्मम्**- कुटिलता **न**- नहीं है। **अनृतम्**- असत्य वचन **च**- और **माया**[3]- वञ्चना **न**- नहीं है। **तेषाम्**- उन मुमुक्षुओं का **असौ**- यह **विरजः**- दोषरहित **ब्रह्मलोकः**[4]- परब्रह्मरूप फल है।

व्याख्या

अमुमुक्षु की निन्दा तथा मुमुक्षु की प्रशंसा

जिस कारण अन्न रेतरूप में परिणत होता है और रेत प्रजारूप में परिणत होता है। उस कारण कर्मनिष्ठ मनुष्य प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं। **अन्नं वै प्रजापतिः** (प्र.उ.1.14)। इस पूर्व मन्त्र के अनुसार प्रकृत मन्त्र में प्रजापति शब्द का अन्न अर्थ है। **'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य'** इत्यादि वाक्यों में व्रत शब्द का भक्षण अर्थ प्रसिद्ध है अतः **प्रजापतिव्रतम्**- अन्नभक्षण का (व्रतरूप से या अवश्य कर्तव्यरूप से) **आचरन्ति**- आचरण करते हैं अर्थात् अमुमुक्षु आगे कहे जाने वाले तप आदि से वर्जित हैं किन्तु जाति, आश्रय और निमित्त इन दोषों[5] से रहित अन्न को भगवदर्पण करके और पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान करके खाते

टिप्पणी- 1. इति शब्दः प्रतिवचनसमाप्तौ (प्रका.)।

2. पुत्रपश्वादिलक्षणः कार्यभूतब्रह्मरूपलोकः(प्रका.)।

3. उत्कटं जिह्मत्वम् एव माया (टि.)।

4. ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः (परब्रह्मलोकः) परब्रह्मरूपं फलम् इत्यर्थः (प्रका.)।

5. इस विषय का 'विशिष्टाद्वैत वेदान का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ के अन्तर्गत साधनसप्तक में देखना चाहिए।

हैं। इस प्रकार जो अन्नभक्षणरूप प्रजापति व्रत करते हैं तथा ऋतुकाल में भार्यागमनरूप व्रत को करते हैं, वे शास्त्रविधि से प्रजा की कामना करने वाले मनुष्य पुत्र-पुत्रीरूप प्रजा को उत्पन्न करते हैं। उनके लिए ही यह ब्रह्मलोक है। ब्रह्म से उत्पन्न कार्य पदार्थ को भी ब्रह्म कहते हैं। जैसे- मिट्टी से उत्पन्न घटादि मिट्टी होते हैं, वैसे (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) ब्रह्म से उत्पन्न जगत् (स्थूलचिदचिद्विशिष्ट)ब्रह्म होता है। लोक का अर्थ फल होता है। ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मात्मक होता है। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार ब्रह्मलोक का अर्थ है- पुत्र, पशु आदि ब्रह्मात्मक फल। यहाँ आदि पद से मृत्युलोक से आरम्भ करके सत्यलोक की प्राप्ति पर्यन्त सभी फल समझने चाहिए। इस प्रकार शास्त्रविधि से कर्म करने वाले बुभुक्षुओं के प्राप्य फल का वर्णन करके अब मुमुक्षुओं के प्राप्य फल का वर्णन किया जाता है- जो शास्त्रीय रीति से तप का आचरण करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, सदा सत्य संभाषण करते हैं तथा "मन से अन्य सोचना, वाणी से अन्य बोलना और अन्य प्रकार से कर्म करना दुरात्माओं का कार्य है"- **मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्** इस प्रकार वर्णित कुटिलता से रहित हैं, प्राणियों के लिए अहितकर, असत्य वचन बोलने वाले नहीं हैं और किसी की वञ्चना नहीं करते हैं। उन मुमुक्षुओं का प्राप्य फल सर्वदोषविवर्जित, सर्वगुणाश्रय ब्रह्म ही है। अमुमुक्षु प्रजापतिव्रत का आचरण करके प्रजा को उत्पन्न करके विनाशी फल को प्राप्त करते हुए संसार चक्र में परिभ्रमण करने वाले होते हैं, इस प्रकार उनकी निन्दा जाननी चाहिए और मुमुक्षु तप आदि का आचरण करते हुए सर्वदुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार उनकी प्रशंसा जाननी चाहिए।

प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत **प्रजाकामो ह वै प्रजापतिः** (प्र.उ.1.4) इत्यादि वचन से प्रकृति और पुरुष के द्वारा परमात्मा को प्रजा का स्रष्टा कहा था। इस प्रकार निमित्तकारण प्रजापति के उपादानकारणत्व की सिद्धि के लिए **स एष वैश्वानरः** (प्र.उ.1.7) इत्यादि के द्वारा जीवात्मा की ब्रह्मात्मकता कही गयी और पुनरावृत्ति तथा अपुनरावृत्ति का विवेचन आरम्भ करके काल की भी ब्रह्मात्मकता को कहकर पुनरागमन होने पर अन्नरुप से स्थित होकर उत्पन्न होनेवाली प्रजा के उपादान अचेतन अंश

की भी ब्रह्मात्मकता के वर्णन से परमात्मा की उपादानकारणता का दृढता से प्रतिपादन होता है। इस प्रकार प्रथम प्रश्न में ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होने का प्रतिपादन किया जाता है।

॥ प्रथम प्रश्न की व्याख्या समाप्त ॥

अब देह, इन्द्रियादि से विलक्षण प्रत्यगात्मस्वरूप का बोध कराने के लिए प्रश्न किया जाता है-

द्वितीयः प्रश्नः
प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम् ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥1॥

अन्वय

अथ भार्गवः वैदर्भिः ह एनं पप्रच्छ। भगवन् एव कति देवाः प्रजां विधारयन्ते। कतरे एतत् प्रकाशयन्ते। पुनः एषां वरिष्ठः कः इति।

अर्थ

अथ- कबन्धी के प्रश्न के पश्चात् **भार्गवः**- भृगु के गोत्र में उत्पन्न **वैदर्भिः**- वैदर्भि ने **ह**- प्रसिद्ध **एनम्**- महर्षि पिप्पलाद से **पप्रच्छ**- प्रश्न किया (कि) **भगवन्**- हे भगवन्! **एव**- निश्चितरूप से **कति**- कितने **देवाः**- देवता **प्रजाम्**[1]- शरीर को **विधारयन्ते**- धारण करते हैं? **कतरे**- कितने देवता **एतत्**- शरीर के कार्य आहारविहारादि अथवा शरीरधारण को **प्रकाशयन्ते**- प्रकाशित करते हैं? **पुनः**- फिर **एषाम्**- इन में **वरिष्ठः**- श्रेष्ठ **कः**- कौन है?

टिप्पणी- 1. प्रजाः तु प्रजापतेः उत्पन्ना नाम (सु.)।

व्याख्या

वैदर्भि का प्रश्न- कबन्धी कात्यायन के प्रश्न के पश्चात् भार्गव वैदर्भि ने प्रसिद्ध पिप्पलाद महर्षि से पूँछा कि हे भगवन्! कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं? प्रजा शब्द सामान्यतः मनुष्यसमुदाय का बोधक होता है किन्तु वह यहाँ प्रसङ्गानुसार शरीर का बोधक है। शरीर दो प्रकार के होते हैं- स्थावर और जंगम। प्रजा शब्द दोनों का बोधक है। आकाशादि भूत और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता होते हैं। उनसे अधिष्ठित होने के कारण भूत और इन्द्रियों के लिए देव शब्द का प्रयोग किया गया है। कितने देवता शरीर के कार्य[1] आहारविहारादि को सिद्ध करते हैं? अथवा कितने देवता शरीरधारण को प्रकाशित करते हैं? अर्थात् कितने देवताओं के द्वारा किया गया शरीरधारणरूप कार्य हम लोगों को ज्ञात होता है? यदि धारणादि करने वाले देवता अनेक हैं, तो उनमें श्रेष्ठ कौन है?

महर्षि पिप्पलाद उत्तर के माध्यम से मुख्य प्राण के ही धारकत्व, प्रकाशकत्व और श्रेष्ठत्व को कहते हैं-

द्वितीयो मन्त्रः

तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति, वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयाम इति॥2॥

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच। ह वै एषः आकाशः देवः वायुः अग्निः आपः पृथिवी वाग्, मनः चक्षुः च श्रोत्रम्। ते प्रकाश्य अभि वदन्ति, वयं बाणम् एतत् अवष्टभ्य विधारयामः।

टिप्पणी- 1. कार्यम् आहारविहारादि। शरीरस्य प्रकाशनं यदि निष्पादनं, न तद् वागादिकर्तृकम्, यद्यभिव्यजनं न तदाकाशादीनाम्, अतः तत्परित्यज्य तत्कार्यानुधावनम्। प्रकाशनं च निष्पादनमेव, यद्यत्र एतदिति पूर्वोक्तपरामर्शि तर्हि प्रजाविधारणमेव तदर्थम् (टि.)।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- पिप्पलाद महर्षि ने **तस्मै**- भार्गव वैदर्भि को **उवाच**- कहा (कि) **ह वै**- अत्यन्त प्रसिद्ध **एषः**- यह **आकाशः**- आकाश **देवः**- देवता है, **वायुः**- वायु **अग्निः**- अग्नि **आपः**- जल **पृथिवी**- पृथिवी **वाग्**- वाग् **मनः**- मन **चक्षुः**- चक्षु **च**- और **श्रोत्रम्**- श्रोत्र देवता हैं। **ते**- वे देवता (समक्ष स्थित शरीर का) **प्रकाश्य**- निर्देश करके **अभि**- भलीभाँति **वदन्ति**- कहने लगे (कि) **वयम्**- हम **बाणम्**- बाण की तरह संचरणशील **एतत्**- इस शरीर में **अवष्टभ्य**[1]- स्थित होकर (इस शरीर को) **विधारयामः**- धारण करते हैं।

व्याख्या

धारक और प्रकाशक

महर्षि पिप्पलाद ने वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर दिया कि वेदों के सृष्टि प्रकरण में अत्यन्त प्रसिद्ध आकाश,वायु, तेज, जल और पृथ्वी देव हैं तथा वाक्, मन, चक्षु, और श्रोत्र भी देव हैं। शरीर के आरम्भक (उपादान) आकाशादि पञ्चभूत होते हैं। शरीर के आश्रित इन्दियाँ रहती हैं, वे दो प्रकार की होती हैं- ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रियों में वाक् इन्द्रिय प्रधान होती है क्योंकि वह दूसरों से व्यवहार करने का असाधारण कारण है। वह पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन चारों कर्मेन्दियों का उपलक्षण है। अन्तर इन्द्रिय और बाह्य इन्द्रिय भेद से ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। मन अन्तर् इन्द्रिय होने के कारण सबसे विलक्षण है, सभी प्रकार के ज्ञान का साधन है इसलिए ज्ञानेन्द्रियों में मन प्रधान है। बाह्य ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु की प्रधानता प्रसिद्ध है। अलौकिक अर्थ का बोधक शास्त्र होता है, उसके भी ज्ञान का साध न होने से श्रोत्र की भी प्रधानता मानी जाती है इसलिए मन्त्र में दोनों को ग्रहण किया है। चक्षु और श्रोत्र अन्य तीन ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं। प्रकाशक और धारक देव कितने हैं? ऐसा प्रश्न प्रथममन्त्र से किये जाने

टिप्पणी-1. स्वरूपं यथा न विशीर्यते तथा रक्षणमवष्टम्भः। कार्यकरणावसरे यथा नावसादः तथा रक्षणं धारणम् इति भावः (टि.)।

पर उत्तरात्मक द्वितीय मन्त्र में आया देव[1] शब्द आकाश से लेकर श्रोत्रपर्यन्त सभी से सम्बन्धित होता है। शरीर बाण के समान चलने के स्वभाव वाला है, इसलिए श्रुति इसका बाण शब्द से कथन करती है। आकाशादि भूत और एकादश इन्द्रियाँ (उनके अधिष्ठाता देवता) पुरोवर्ती शरीर को दिखाकर कहने लगीं कि बाण के समान संचारशील शरीर का अवलम्वन लेकर हम इसे धारण करते हैं। आकाश अवकाश प्रदान करता है, वायु गतिशील बनाता है, तेज अपेक्षित ऊष्मा प्रदान करता है, जल शीतलता और मृदुता प्रदान करता है, पृथ्वी घनीभूत करती है। शरीर में वागादि इन्द्रियों के होने पर संभाषण आदि व्यवहार होते हैं और ज्ञानेन्द्रियों के होने पर विविध प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन कार्यों को करने से आकाशादि धारक कहे जाते हैं। 'वयम्' इस प्रकार प्रत्येक के द्वारा किया किया गया बहुवचन का प्रयोग उनके महत्त्व को सूचित करता है। मुझ एक के द्वारा शरीरधारण किया जाता है, यह प्रत्येक का अभिप्राय है। इस प्रकार 5 भूत +11 इन्द्रियाँ=16 शरीर के धारक कहे जाते हैं, यही प्रकाशक भी हैं अर्थात् इनके द्वारा किया गया शरीरधारणरूप कार्य लोक में ज्ञात होता है। वस्तुतः वे सभी एक-एक कार्य को करके शरीर का उपकार करते हैं, धारक तो प्राण ही है। प्राण के धारकत्व का निरूपण अग्रिम मन्त्र में किया जाएगा। प्रकाशक का अर्थ निष्पादक अर्थात् सिद्धि करने वाला होने पर शरीर के कार्य आहार-विहारादि की निष्पत्ति करने वाले सभी हैं तथापि मुख्य प्राण की प्रधानता है। हम इन कार्यों को न करें तो शरीर नहीं रहेगा, यह आकाशादि सब का अभिप्राय है।

टिप्पणी-1. रङ्गरामानुज भाष्य (प्रकाशिकाव्याख्या) में देव शब्द का गमनशील अर्थ करके केवल वायु के साथ इसका सम्बन्ध माना है, उसका अभिप्राय यह है कि प्रश्न से ही देव शब्द का सम्बन्ध आकाशादि सभी से प्राप्त है, अतः गमनशील अर्थ करके उसका वायु के साथ ही सम्बन्ध करना उचित है। आगे तृतीय मन्त्र मे मुख्य प्राण को धारक कहा है, वह वायु का विकार है, अतः आकाशादि सभी देव होने पर भी वायु के साथ देव शब्द का प्रयोग किया है, यह अभिप्राय भी संभव है।

शिष्य के कः पुनरेषां वरिष्ठः? (प्र.उ.2.1) इस प्रश्न का आचार्य उत्तर देते हैं-

तृतीयो मन्त्रः

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥3॥

अन्वय

वरिष्ठः प्राणः तान् उवाच, मोहम् मा आपद्यथ, अहम् एव आत्मानम् एतत् पञ्चधा प्रविभज्य बाणम् एतत् अवष्टभ्य विधारयामि इति ते अश्रद्दधानाः बभूवुः।

अर्थ

वरिष्ठः- मुख्य[1] **प्राणः**- प्राण ने **तान्**- उनको **उवाच**- कहा (कि तुम सब) **मोहम्**- मोह को **मा**- न **आपद्यथ**- प्राप्त हो (क्योंकि) **अहम्**- मैं **एव**- ही **आत्मानम्**- अपने **एतत्**- स्वरूप को **पञ्चधा**- पाँच प्रकार से **प्रविभज्य**- विभाजित करके **बाणम्**- बाण के समान गतिशील **एतत्**- शरीर का **अवष्टभ्य**- अवलम्बन लेकर (शरीर को) **विधारयामि**-धारण करता हूँ। (मुख्य प्राण के) **इति**- इस वचन में **ते**- वागादि **अश्रद्दधानाः**- अश्रद्धालु **बभूवुः**- हो गये।

व्याख्या

प्राण ही शरीर का धारक

मुख्य प्राण ने अभिमान करने वाले आकाशादि भूतों तथा वाग् आदि इन्द्रियों से कहा कि तुम सब मोह से युक्त न हो। मोह का अर्थ है- विपरीत बुद्धि। मैं ही प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच रूपों में अपना विभाग करके शरीर में स्थित होकर उन्हें धारण करता

टिप्पणी- 1. यहाँ प्राण को मुख्य कहा है, इसी से शास्त्रों में अन्यत्र इन्द्रियों को गौण प्राण कहना स्पष्ट है।

हूँ इसलिए तुम सब मोहित न हो। हे आकाशादि! तुम लोग कुछ कार्य करने वाले हो, सभी कार्य करने वाले नहीं हो। मैं ही शरीर को धारण करने वाला हूँ, तुम लोग शरीर को धारण करने वाले नहीं हो। मेरे अधीन ही तुम्हारे कार्य हैं, मेरे विना तुम कुछ भी नहीं कर सकते। मुख्य प्राण के ऐसा कहने पर आकाशादि पाँच शान्त हो गये किन्तु वागादि पाँच इन्द्रियाँ अविश्वास करने लगीं।

चतुर्थो मन्त्रः

सोऽभिमानादूर्ध्वम् उत्क्रमत[1] इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रमन्ते[2] । तस्मिंश्च[3] प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते। तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च[4] प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।।4।।

अन्वय

स: अभिमानात् इव ऊर्ध्वम् उत्क्रमते। तस्मिन् उत्क्रामति अथ इतरे सर्वे एव उत्क्रमन्ते। च तस्मिन् प्रतिष्ठमाने सर्वे एव प्रतिष्ठन्ते। तत् यथा मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं सर्वाः मक्षिकाः एव उत्क्रामन्ते च तस्मिन् प्रतिष्ठमाने सर्वाः एव प्रतिष्ठन्ते, एवं वाक् मनः चक्षुः च श्रोत्रम्। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।

अर्थ

सः- वरिष्ठ प्राण (अपने वास्तविक सामर्थ्य से) **अभिमानात्**- अहंकार के कारण (अपने स्थान से) **इव[5]**- थोड़ा **ऊर्ध्वम्**- ऊपर की ओर **उत्क्रमते**- निकलने लगा। **तस्मिन्**- मुख्य प्राण के **उत्क्रामति**-

---

टिप्पणी- 1. 'उत्क्रामते इति पाठान्तरः।
2. 'उत्क्रामन्ते' इति पाठान्तरः।
3. तस्मिंस्तु इति पाठान्तरः।
4. तस्मिंस्तु इति पाठान्तरः।
5. इव शब्दोऽल्पार्थे (प्रका.)।

निकलने पर **अथ**- फिर **इतरे**- अन्य **सर्वे**- वागादि सभी **एव**- निश्चितरूप से **उत्क्रमन्ते**- निकलने लगे। **च**- और **तस्मिन्**- उसके **प्रतिष्ठमाने**- स्थित हो जाने पर **सर्वे**- वागादि सभी **एव**- निश्चित रूप से **प्रतिष्ठन्ते**- स्थित हो जाते हैं। (उस विषय में) **तत्**- दृष्टान्त है। **यथा**- जैसे (छत्ते से) **मधुकरराजानम्**- रानी मक्खी के **उत्क्रामन्तम्**- उड़ जाने पर (अन्य) **सर्वाः**- सभी **मक्षिकाः**- मधुमक्खियाँ **एव**- निश्चितरूप से **उत्क्रामन्ते**- उड़ जाती हैं। **च**-और **तस्मिन्**-उसके **प्रतिष्ठमाने**-बैठ जाने पर **सर्वाः**-सभी मधुमक्खियाँ **एव**- निश्चितरूप से **प्रतिष्ठन्ते**- बैठ जाती हैं। **एवम्**- इसी प्रकार (किसी शरीर से मुख्य प्राण के निकलने पर) **वाक्**-वाणी **मनः**-मन **चक्षुः**-नेत्र **च**-और **श्रोत्रम्**-श्रोत्र (ये सभी निकल जाते हैं और किसी शरीर में मुख्य प्राण के स्थित होने पर वाग् आदि सभी स्थित हो जाते हैं। प्राण के सामर्थ्य का अनुभव करने से अहंकार निवृत्त होने पर) **ते**- वाग् आदि सभी इन्द्रियाँ **प्रीताः**- प्रसन्न होकर **प्राणम्**- प्राण की **स्तुन्वन्ति**- स्तुति करने लगीं।

व्याख्या

मुख्य प्राण के सामर्थ्य का अनुभव

वरिष्ठ प्राण में ही शरीर को धारण करने का सामर्थ्य है, इस विषय में वाग् आदि इन्द्रियों के अविश्वास को दूर करने के लिए प्राण बाहर जाने के लिए शरीर में विद्यमान अपने निवास स्थान से थोड़ा ऊपर की ओर निकला, इतने से ही वागादि सभी इन्द्रियाँ घबड़ा कर विवश होकर उसके साथ ही ऊपर की ओर निकलने लगीं, कोई भी स्थिर नहीं रह सका। शरीर से प्राण के निकलने पर जीवन समाप्त हो जाता अतः प्राण शरीर से बाहर नहीं निकला। शरीरपात के भय से प्राण के शरीर में स्थित होने पर वाग् आदि सभी शरीर में स्थित हो गये। प्रस्तुत मन्त्र में आये मधुकर का अर्थ है - मधु का निर्माण करने वाली मक्खियाँ। उनमें एक प्रधान मधुमक्खी होती है, जिसे रानी मक्खी कहते हैं, वह राजा के स्थान पर सुशोभित होती है। छत्ते से उसके उड़ जाने पर वहाँ बैठी सभी मधुमक्खियाँ उसके साथ ही उड़ जाती हैं और छत्ते में उसके बैठ जाने पर अन्य सभी उसके साथ ही बैठ जाती हैं। उसी प्रकार वाक्

आदि ।। इन्द्रियाँ मुख्य प्राण का अनुसरण करती हैं। मुख्य प्राण जिस शरीर से निकलता है, उसमें रहने वाली सभी इन्द्रियाँ उसके साथ ही निकल जाती हैं और प्राण जाकर जिस नूतन शरीर में स्थित हो जाता है, उसके साथ ही सभी इन्द्रियाँ वहाँ स्थित हो जाती हैं। इस कथानक से प्राण की महिमा सिद्ध होती है। वह ही शरीर को धारण करने वाला है। इन्द्रियाँ तो उसका अनुसरण करने वाली होती हैं। मुख्य प्राण की महिमा के अनुभव से वागादि प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करने लगे।

अब मुख्य प्राण की ही स्तुति करते हैं-

पञ्चमो मन्त्रः

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवान् एष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।5।।

अन्वय

एषः अग्निः तपति। एषः सूर्यः, एषः पर्जन्यः, एषः मघवान्, वायुः। एषः पृथिवी, रयिः देवः, सत् च असत् यत् च अमृतम्।

अर्थ

एषः- प्राण **अग्निः**- अग्नि होकर **तपति**- प्रज्वलित होता है। **एषः**- प्राण **सूर्यः**- सूर्य होकर प्रकाश करता है। **एषः**- प्राण **पर्जन्यः**- मेघ होकर वर्षा करता है। **एषः**- प्राण **मघवान्**- इन्द्र होकर प्रजा का पालन और असुरों का विनाश करता है। प्राण **वायुः**- वायु होकर संचरण करता है। **एषः**- प्राण **पृथिवी**- पृथ्वी होकर सबको धारण करता है। प्राण **रयिः देवः**[1]- चन्द्रमा होकर सबका पोषण करता है। **सत्**- वर्तमान **च**- और **असत्**- अवर्तमान **यत्**- जो है, वह प्राण ही है। **च**- और जो **अमृतम्**- मोक्ष है, वह भी प्राण ही है।

टिप्पणी- 1. अब्भूतो (अन्नभूतो) देवः चन्द्रमा इति यावत् (प्रका.)।

व्याख्या

जिसके अधीन जिसकी सत्ता होती है, वह वही कहा जाता है- **यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते**[1]। अग्नि, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी और चन्द्रमा इन सब देवताओं की सत्ता प्राण के अधीन है, इसलिए इन सब को प्राण कहा जाता है। प्राण अग्नि होकर जलता है, भोजन को पकाता है, गर्मी पहुँचाकर शीतनिवारण करता है और दूसरी वस्तुओं को जलाता है। प्राण मेघ होकर जल बरसाता है, वह इन्द्र होकर प्रजासंरक्षण और असुरसंहार करता है। प्राण वायु होकर सभी को जीवनदान के लिए सर्वत्र संचरण करता है, वह पृथ्वी होकर स्थावर-जंगम सब प्राणियों को धारण करता है। प्राण पृथ्वी होकर लता, वनस्पति, पेड़ और पौधों का पोषण करता है। सत् का अर्थ है - वर्तमानकालिक पदार्थ और असत् का अर्थ है - उससे भिन्न अतीतकालिक और अनागतकालिक पदार्थ अथवा सत् का अर्थ है- प्रत्यक्ष ज्ञान और असत् का अर्थ है - परोक्ष ज्ञान अथवा सत् का अर्थ है - चेतन और असत् का अर्थ है- अचेतन। ये सब प्राण ही हैं क्योंकि प्राण के अधीन हैं। प्राण से युक्त होकर ही चेतन अचेतनशरीर को धारण करता है इसलिए प्राण के अधीन अचेतन पदार्थ होता है। प्राण के होने पर ही मुमुक्षु मोक्ष के साधन का अनुष्ठान करके मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्राण के अधीन मोक्ष सिद्ध होता है अतः मोक्ष भी प्राण कहा जाता है।

सब को प्राण कहने का हेतु जो प्राण के अधीन सब की स्थिति है। अब उसे ही कहते हैं-

षष्ठो मन्त्रः

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥6॥

अन्वय

रथनाभौ अराः इव ऋचः यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं च ब्रह्म सर्वं

टिप्पणी- 1. 'गण्यते' इति पाठान्तरः।

प्राणे प्रतिष्ठितम्।

अर्थ

रथनाभौ- रथ की नाभि में लगे **अराः**- अर **इव**- के समान **ऋचः**- ऋक् मन्त्र **यजूंषि**- यजुर्मन्त्र **सामानि**- साम मन्त्र **यज्ञः**- यज्ञ **क्षत्रम्**- क्षत्रिय **च**- और **ब्रह्म**- ब्राह्मण **सर्वम्**- सब कुछ **प्राणे**- प्राण में **प्रतिष्ठितम्**- स्थित है।

व्याख्या

रथ के चक्र (पहिए) के मध्यभाग में विद्यमान अवयव को नाभि कहते हैं। चक्र की नाभि और नेमि (परिधि) के मध्य में विद्यमान काष्ठ को अर कहते हैं। जिस प्रकार रथ की नाभि में अर स्थित होते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद प्राण में स्थित हैं। प्राण के अधीन वेदों का उच्चारण होने से उनकी प्राण में स्थिति कही जाती है। वेदमन्त्रों से साध्य यज्ञ प्राण के अधीन है इसलिए उसकी प्राण में स्थिति कही जाती है। मन्त्र में आए क्षत्र और ब्रह्म पद स्थावर-जंगम सभी प्राणियों के उपलक्षण हैं। ब्राह्मण-क्षत्रियसहित स्थावर-जंगम सभी प्राणी प्राण में स्थित हैं।

अब मुख्य प्राण को सम्मुख करके स्तुति की जाती हैं-

सप्तमो मन्त्रः

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण!
प्रजास्त्विमाः बलिं हरन्ति[1] यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।।7।।

अन्वय

प्रजापतिः त्वम् एव गर्भे चरसि। प्रति जायसे। तु प्राण! इमाः प्रजाः तुभ्यं बलिं हरन्ति। यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।

टिप्पणी- 1. रङ्गरामानुजभाष्यानुसारेण मन्त्रेऽस्मिन् बलिं हरन्ति इत्यंशः नास्ति।

अर्थ

हे प्राण **प्रजापतिः**- प्रजा के रक्षक होकर **त्वम्**- तुम **एव**- ही **गर्भे**- गर्भस्थशिशु में **चरसि**- विचरण करते हो। गर्भ के उत्पादक होने से पितारूप में और पोषक होने से मातारूप में विद्यमान होने पर भी **प्रति**- पुत्रत्व धर्म को स्वीकार करके **जायसे**- उत्पन्न होते हो। **तु**- और **प्राण**- हे प्राण **इमाः**- ये सभी **प्रजाः**- प्रजाएं **तुभ्यम्**- तुमको **बलिम्**- उपहार **हरन्ति**- अर्पित करती हैं। **यः**- जो (तुम) **प्राणैः**- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूपों से (सभी प्राणियों में) **प्रतितिष्ठसि**- रहते हो।

व्याख्या

प्राण के विना किसी भी संसारी प्राणी का अस्तित्व संभव नही। प्राण गर्भस्थ शिशु में भी रहता है, तभी उसका जीवन सुरक्षित रहता है। प्राण गर्भ का उत्पादक होने के कारण पितारूप से और पोषक होने के कारण मातारूप से विद्यमान होने पर भी पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। सारी प्रजा उस प्राण को ही भोजन और जल समर्पित करती है, जो प्राण-अपान आदि पाँच रूपों से सभी प्राणियों में रहता है।

अष्टमो मन्त्रः

देवानामसि बह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥8॥

अन्वय

देवानां बह्नितमः असि। पितृणां प्रथमा स्वधा। अथर्वाङ्गिरसाम् ऋषीणां सत्यं चरितम् असि।

अर्थ

हे प्राण! तुम **देवानाम्**- देवताओं को **बह्नितमः**[1]- हविष्

टिप्पणी- 1. वहति हविः देवेभ्यः इति बह्निः उच्यते(सु.)। अतिशयेन बह्निः बह्नितमः (टि.)। बह्नितमः हविषां वाहकतमः (प्रका.)।

पहुँचाने वाले उत्तम अग्नि **असि**- हो। **पितृणाम्**- पितरों की (प्रीति का हेतु) **प्रथमा**- प्रथम **स्वधा**- स्वधा हो **अथर्वाङ्गिरसाम्**- अथर्वा अङ्गिरस् आदि **ऋषीणाम्**- ऋषियों के **सत्यम्**- श्रेष्ठ **चरितम्**- नित्य-नैमित्तिक कर्म **असि**- हो।

व्याख्या

स्वाहा शब्द बोलकर देवताओं के लिए अग्नि में हविष् दी जाती है, इससे अग्निदेव हविष् को अन्य देवताओं के पास पहुँचा देते हैं। हविष् प्रदान करना प्रदानकर्ता के प्राण के अधीन है और अग्नि देवता का कार्य भी प्राण के अधीन है अतः कहा जाता है कि प्राण! तुम देवताओं को हविष् पहुँचाने वाले उत्तम अग्नि हो। स्वधा शब्द का उच्चारण कर पितरों को पिण्ड दिया जाता है। उससे पितरों की प्रीति (सुख) होती है इसलिए उनकी प्रीति का हेतु स्वधा होता है। देवयाग की अपेक्षा पितरों के लिए नान्दीमुख श्राद्ध प्रथम किया जाता है इसलिए यहाँ स्वधा का विशेषण प्रथमा कहा गया है। अथर्वा अङ्गिरस् आदि ऋषियों के द्वारा आचरित श्रेष्ठ नित्यनैमित्तिक कर्म उनके प्राण के अधीन हैं इसलिए उन कर्मो को भी प्राण कह कर स्तुति की जाती है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नित्यनैमित्तिक कर्म प्राण के अधीन हैं, यह इस मन्त्र का तात्पर्य है।

नवमो मन्त्रः

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥9॥

अन्वय

प्राण! त्वम् इन्द्रः। तेजसा रुद्रः असि। त्वम् परिरक्षिता। त्वं ज्योतिषां पतिः सूर्यः अन्तरिक्षे चरसि।

अर्थ

प्राण!- हे प्राण! **त्वम्**- तुम **इन्द्रः**- परमेश्वर हो। प्रलयकाल में **तेजसा**- सर्वसंहारक तेज से युक्त होने के कारण (सबको) **रुद्रः**-

रुलाने वाले **असि**- हो। स्थिति काल में **त्वम्**- तुम (सबकी) **परिरक्षिता**- सब प्रकार से रक्षा करने वाले हो। **त्वम्**- तुम **ज्योतिषाम्**- ज्योतियों के **पतिः**- स्वामी **सूर्यः**- सूर्य होकर **अन्तरिक्षे**- अन्तरिक्ष में **चरसि**- विचरण करते हो।

व्याख्या

इस मन्त्र में इन्द्र शब्द से जगत् की उत्पत्ति का हेतु, रुद्र शब्द से लय का हेतु और परिरक्षिता शब्द से स्थिति का हेतु प्राण कहा जाता है तथा सूर्यरूप से नभ में विचरण करने वाला भी वही कहा जाता है।

दशमो मन्त्रः

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण! ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥10॥

अन्वय

प्राण! यदा त्वम् अभिवर्षसि, अथ ते इमाः प्रजाः कामाय अन्नं भविष्यति इति आनन्दरूपाः तिष्ठन्ति।

अर्थ

प्राण!- हे प्राण! **यदा**- जब **त्वम्**- तुम (मेघरूप होकर) **अभिवर्षसि**- भलीभाँति वर्षा करते हो, **अथ**- तब **ते**- तुम्हारी **इमाः**- ये सभी **प्रजाः**- प्रजाएं **कामाय**- अभीष्ट प्रयोजन के लिए (पर्याप्त) **अन्नम्**- अन्न **भविष्यति**- होगा, **इति**- ऐसा समझकर **आनन्दरूपाः**- आनन्दित होकर **तिष्ठन्ति**- रहती हैं।

व्याख्या

प्रचुर अन्न की उत्पत्ति प्रचुर वर्षा के अधीन है, अतः प्राण जब मेघरूप होकर ठीक से वृष्टि करता है, तब सभी प्रजा अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न होगा, ऐसा मानकर आनन्दित होती है।

एकादशो मन्त्रः

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥11।

अन्वय

प्राण! त्वं व्रात्यः, एकः ऋषिः विश्वस्य अत्ता सत्पतिः। वयम् आद्यस्य दातारः। मातरिश्व! त्वं नः पिता।

अर्थ

प्राण!- हे प्राण! **त्वम्**- तुम **व्रात्यः**- संस्कारहीन द्विज हो। **एकः**-प्रधान **ऋषिः**- मन्त्रद्रष्टा हो। **विश्वस्य**- जगत् के **अत्ता**- संहारकर्ता हो। **सत्पतिः**- साधुओं के रक्षक हो, **वयम्**- हम सब **आद्यस्य**- भोज्य पदार्थ को **दातारः**- देने वाले हैं। **मातरिश्व**[1]- हे आकाश में विचरण करने वाले वायु! **त्वम्**- तुम **नः**- हम सब के **पिता**- पिता हो।

व्याख्या

व्रात्य- जिन द्विजों का यथासमय उपनयन संस्कार नहीं हुआ, जिन्होंनें नियमित सन्ध्योपासन नहीं किया और वेदाध्ययन नहीं किया, वे सब व्रात्य कहलाते हैं। **ऋषि**- विना पढ़े ही जिनके हृदय में वेदमन्त्रों का प्रकाश होता है, वेदमन्त्र का दर्शन करने वाले वे महापुरुष ऋषि कहलाते हैं- **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।** पर (परमात्म) और अवर (आत्म) तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले ऋषि कहलाते हैं- **ऋषयश्च सर्वे परावरतत्त्वयाथात्मविदः।** (गी.रा.भा.10.13)हे प्राण! तुम व्रात्य और प्रधान ऋषि हो। जगत् के संहारक और साधु पुरुषों के रक्षक हो। हम सब तुम्हारे लिए खाद्य और पेय पदार्थ अर्पित करने वाले हैं। हे वायुरूप प्राण! तुम हम सबको उत्पन्न करने वाले पिता हो, इस प्रकार सर्वसमर्थ प्राणों की स्तुति की जाती है।

टिप्पणी- 1. मातरिश्वन् इति वक्तव्ये नकारलोपः छान्दसः (प्रदी.)।

द्वादशो मन्त्र

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥12॥

अन्वय

ते या तनूः वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे च या चक्षुषि च या मनसि सन्तता। तां शिवां कुरु मा उत्क्रमीः।

अर्थ

ते- आपकी **या**- जो **तनूः**[1]- शक्ति **वाचि**- वाणी में **प्रतिष्ठिता**- स्थित है, **या**- जो शक्ति **श्रोत्रे**- श्रोत्र इन्द्रिय में (स्थित है।) **च**- और **या**- जो शक्ति **चक्षुषि**- चक्षु इन्द्रिय में (स्थित है।) **च**- और **या**- जो शक्ति **मनसि**-मन में **सन्तता**- अनुगत है। तुम **ताम्**- उस शक्ति को **शिवाम्**- मङ्गलमयी **कुरु**- करो। (और अपने स्थान से) **मा**- मत **उत्क्रमीः**- उत्क्रमण करो।

व्याख्या

वागादि इन्द्रियों में कार्य करने की जो शक्ति है, वह प्राण की है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है कि हे प्राण! आपकी जो शक्ति वाग् इन्द्रिय में, श्रोत्र में, चक्षु में और मन में स्थित है, उसे मङ्गलमयी करो। प्राण के शरीर में रहने पर ही उसकी शक्ति इन्द्रियों में रहती है, जिससे वे कार्य करती हैं, **तां शिवां कुरु** इस प्रकार शक्ति को मङ्गलमय करने की प्रार्थना की जाती है। प्राण शरीर में स्थित रहें, यही इस प्रार्थना का तात्पर्य है। शरीर से प्राण का उत्क्रमण होने पर जीवन ही नहीं रहता है अतः उत्क्रमण न करके रक्षा करने के लिए प्रार्थना की जाती है।

त्रयोदशो मन्त्रः

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च धेहि[2] न इति॥13॥

टिप्पणी- 1. तर्नूनाम् अंशः शक्तिः (टि.)।
2. विधेहि इति पाठान्तरः।

अन्वय

इदं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्, सर्व प्राणस्य वशे। माता इव पुत्रान् रक्षस्व। श्रीः च प्रज्ञां च नः धेहि।

अर्थ

इस लोक में **इदम्**- दृश्यमान वस्तु (और) **त्रिदिवे**- स्वर्ग में **यत्**- जो **प्रतिष्ठितम्**- स्थित है, वह **सर्वम्**- सब **प्राणस्य**- प्राण के **वशे**- वश में है। **माता**- माता **इव**- जैसे **पुत्रान्**- पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही तुम मेरी **रक्षस्व**- रक्षा करो। **श्रीः**[1]- कार्य करने का सामर्थ्य **च**- और **प्रज्ञाम्**- बुद्धि को **नः**- हमें **धेहि**- प्रदान करो।

व्याख्या

वागादि इन्द्रियाँ प्राण से प्रार्थना करती हैं कि हे प्राण! इस लोक और लोकान्तर में विद्यमान जो पदार्थ हैं, वे सब आपके अधीन है अतः जैसे माता प्रति-उपकार की अपेक्षा न करके पुत्रों को सभी उपयोगी पदार्थ प्रदान करके उनकी रक्षा करती है, वैसे ही तुम मेरी रक्षा करो तथा कार्य निष्पन्न करने की शक्ति हमें प्रदान करो। शक्ति होने पर भी यदि बुद्धि न हो तो कार्य संभव नहीं इसलिए कार्य के अनुकूल बुद्धि भी प्रदान करो।

॥ द्वितीय प्रश्न की व्याख्या समाप्त ॥

तृतीयः प्रश्नः

शरीर के धारक मुख्य प्राण को सुनकर उस विषय में विशेष जिज्ञासु प्रश्न करता है-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुत एषः प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिन् शरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य

टिप्पणी- 1. स्वस्वकार्यनिष्पादनसामर्थ्यलक्षणाः श्रियः(प्रका.)।

कथं प्रति तिष्ठते[1]? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते[2]? कथम् अध्यात्ममिति?॥1॥

अन्वय

च अथ आश्वलायनः कौसल्यः ह एनं पप्रच्छ। भगवन्! एषः प्राणः कुतः जायते? अस्मिन् शरीरे कथम् आयाति? वा आत्मानं प्रविभज्य कथं प्रतितिष्ठते? केन उत्क्रमते? बाह्यं कथम् अभिधत्तेः? अध्यात्मं कथम् इति?

अर्थ

च- और **अथ**- भार्गव वैदर्भि के प्रश्न के पश्चात् **आश्वलायनः**- आश्वल के पुत्र **कौसल्यः**- कौसल्य ने **ह**- प्रसिद्ध **एनम्**- महर्षि पिप्पलाद को **पप्रच्छ**- पूँछा (कि) **भगवन्!**-हे भगवन्! **एषः**- यह **प्राणः**- प्राण **कुतः**- किससे **जायते**- उत्पन्न होता है? **अस्मिन्**- इस **शरीरे**- शरीर में **कथम्**- कैसे **आयाति**- आता है? **वा**-और **आत्मानम्**- अपना **प्रविभज्य**- विभाग करके (शरीर में)**कथम्**- कैसे **प्रतितिष्ठते**- रहता है? **केन**- किससे **उत्क्रमते**- उत्क्रमण करता है? प्राण **बाह्यम्**- बाह्यरूप से **कथम्**- कैसे **अभिधत्ते**- सन्निहित (निकट विद्यमान) रहता है और **अध्यात्मम्**- आन्तरिकरूप से **कथम्**- कैसे रहता है?

व्याख्या

कौशल्य का प्रश्न

प्रश्नोपनिषत् के अन्तर्गत आने वाले छः प्रश्नों में केवल प्रस्तुत प्रश्न में ही **कौसल्यश्च** इस प्रकार चकार सुना जाता है क्योंकि द्वितीय प्रश्न के समान यह तृतीय प्रश्न भी प्राण के विषय में है। भार्गव वैदर्भि के प्रश्न के अनन्तर आश्वल के पुत्र कौसल्य ने प्रसिद्ध पिप्पलाद महर्षि

टिप्पणी- 1. 'प्रातिष्ठते' इति शांकरभाष्यसम्मतपाठः 'प्रतिष्ठते' इति माध्वभाष्यसम्मतपाठः।

2. बाह्यमभिधत्ते बाह्यरुपेण सन्निधत्त इत्यर्थः । बाह्यम् इत्यस्य सन्निधानक्रियाविशेषणत्वात् नपुंसकत्वम् (प्रका.)। बाह्यम् यथा तथाभिधत्त इति शाब्देऽन्वये अर्थलब्धोऽयमर्थः (टि.)

से पूँछा कि हे भगवन्! 1.प्राण की उत्पत्ति का कारण क्या है? 2.वह इस शरीर में कैसे आता है? 3.प्राण अपना विभाग करके शरीर में कैसे स्थित रहता है? 4. किससे उत्क्रमण करता है? 5. बाहर कैसे रहता है? और 6. शरीर के अन्दर कैसे रहता है?

द्वितीयो मन्त्रः

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान् पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेहं ब्रवीमि॥2॥

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच, अतिप्रश्नान् पृच्छसि, तस्मात् ब्रह्मिष्ठः असि इति अहं ते ब्रवीमि।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- पिप्पलाद महर्षि ने **तस्मै**- कौसल्य से **उवाच**- कहा (कि) **अतिप्रश्नान्**[1]- रहस्य विषयों को **पृच्छसि**- पूँछते हो। **तस्मात्**- उससे (मालूम होता है कि तुम) **ब्रह्मिष्ठः**- ब्रह्मज्ञानी जैसे **असि**- हो। **इति**- इसलिए **अहम्**- मैं **ते**- तुम्हारे लिए (उत्तर) **ब्रवीमि**- कहता हूँ।

व्याख्या

महर्षि पिप्पलाद ने मुख्यप्राण की उत्पत्ति आदि पूँछने वाले आश्वल के पुत्र कौसल्य को कहा कि तुम कबन्धी और वैदर्भि के प्रश्नों का अतिक्रमण करके रहस्य अर्थो को पूँछते हो, इससे तुम ब्रह्मवेत्ता जैसा प्रतीत होते हो[2] अतः तुम्हारी योग्यता के कारण मैं प्रश्न का उत्तर देता हूँ।

टिप्पणी- 1. प्रश्नमतिक्रम्य वर्तमानान् प्रश्नयोग्यान् रहस्यान् अर्थान् (प्रका.)।
2. कौसल्य को प्रोत्साहित करने के लिए पिप्पलाद का यह कथन है।

भगवन् कुत एषः प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिन् शरीरे? (प्र.उ.3.1) कौसल्य के इन दो प्रश्नों का उत्तर तृतीय मन्त्र से दिया जाता है-

तृतीयो मन्त्रः

आत्मन एषः[1] प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे॥3॥

अन्वय

आत्मनः एषः प्राणः जायते। यथा पुरुषे एषा छाया। एतस्मिन् एतत् आततम्। मनोकृतेन अस्मिन् शरीरे आयाति।

अर्थ

आत्मनः- परमात्मा से **एषः**- यह **प्राणः**- प्राण **जायते**- उत्पन्न होता है। **यथा**- जैसे **पुरुषे**- जीव के शरीर में **एषा**- यह **छाया**- छाया सम्बद्ध होती है, वैसे ही **एतस्मिन्**- जीव में **एतत्**- प्राणतत्त्व **आततम्**- सम्बद्ध होता है, **मनोकृतेन[2]**- पुण्यपापात्मक कर्म के कारण (फलभोग के लिए प्राणतत्त्व जीव के साथ) **अस्मिन्**- इस **शरीरे**- शरीर में **आयाति**- आता है।

व्याख्या

महर्षि पिप्पलाद प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं - परमात्मा से प्राण उत्पन्न होता है। मुण्डकश्रुति भी कहती है कि परमात्मा से प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं- **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च** (मु.उ.2.1.3)। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहते हैं- जैसे पुरुष के शरीर में छाया सम्बद्ध होती है, उसके जाने पर जाती है और आने पर आती है, वैसे ही जीव में प्राणतत्त्व सम्बद्ध होता है। जीव

टिप्पणी- 1. एवैषः इति प्रकाशिकासम्मतः पाठः।

2. मनसा कृतं मनोकृतम् हशपरत्वाभावेऽपि छान्दसम् उत्त्वम्। मनोजन्यसंकल्पाधीनं हि कर्म पुण्यपापरूपं मनोकृतम् इत्युक्तम्(आ.भा.)।

के किसी शरीर से जाने पर वह उसके साथ जाता है और शरीर में आने पर वह उसके साथ आता है। जैसे छाया पुरुष के विना नहीं रहती, वैसे प्राण भी जीव के विना नहीं रहता। (जीव के) पुण्यपापरूप कर्म के कारण फलभोग के लिए प्राण जीव के साथ ही इस शरीर में आता है।

अब आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतितिष्ठते? (प्र.उ.3.1) *इस तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं-*

चतुर्थो मन्त्रः

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामानेतान् ग्रामान् अधि तिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते॥4॥

अन्वय

यथा सम्राट् एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति अधि कृतान् एव पृथक्-पृथक् विनियुङ्क्ते। एवम् एव एषः प्राणः इतरान् प्राणान् एव सन्निधत्ते।

अर्थ

यथा- जैसे **सम्राट्**- राजा **एतान्**- इन **ग्रामान्**- ग्रामों को **एतान्**- इन **ग्रामान्**- ग्रामों को **अधितिष्ठस्व**- संचालित करो, **इति**- इस प्रकार **अधिकृतान्**- अधीनस्थ कर्मचारियों को **एव**- ही **पृथक्-पृथक्**- पृथक्-पृथक् **विनियुङ्क्ते**- ग्रामों के संचालन में लगाकर उनके द्वारा ग्रामों में सन्निहित होता है। **एवम्**- इसी प्रकार **एव**- ही **एषः**- यह **प्राणः**- मुख्य प्राण **इतरान्**[1]- पायु, उपस्थ आदि **प्राणान्**- प्राण के आश्रय स्थानों में (अपने अंश अपान, व्यान आदि के द्वारा) **एव**- ही **सन्निधत्ते**- सन्निहित होता है।

टिप्पणी-1. अधिकृतान् इतिवत् इतरान् प्राणान् इति द्वितीयाश्रवणेन अधिकृतस्थानापन्नत्वं न मन्तव्यम्। अर्थविरोधे शबदसारूप्यस्याकिञ्चित्करत्वात् विवक्षातः कारकाणीत्युक्तरीत्या अधिकरणस्यैव कर्मत्वेन वित्रक्षितोपपत्तेः।

व्याख्या

जैसे चक्रवर्ती महाराजा अपने कर्मचारियों को तुम इन ग्रामों का शासन करो, तुम उन ग्रामों का शासन करो। इस प्रकार आदेश देकर उन्हें अलग-अलग ग्रामों के संचालन में लगाकर उनके द्वारा ग्रामों में (शासन करने के लिए) रहता है। इसी प्रकार मुख्य प्राण पायु, उपस्थ आदि आश्रय स्थानों में अपान, व्यान आदि के द्वारा रहता है।

प्राण का किस-किस रूप में विभाग होता है? और विभक्त प्राण किस प्रकार किस-किस स्थान में स्थित रहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

पञ्चमो मन्त्रः

पायूपस्थेऽपानम्। चक्षुश्श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते[1]। मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। तस्मादेतास्सप्तार्चिषो भवन्ति॥5॥

अन्वय

अपानम् पायूपस्थे। मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं चक्षुश्श्रोत्रे प्रतितिष्ठते। तु मध्ये समानः। एषः हि एतत् हुतम् अन्नं समं नयति। तस्मात् एताः सप्त अर्चिषः भवन्ति।

अर्थ

सम्राट् के समान मुख्य प्राण **अपानम्**- अपान वायु को **पायूपस्थे**- गुदा और मूत्रेन्द्रिय में रखता है। **मुखनासिकाभ्याम्**- मुख और नासिका से संचरण करने वाला **प्राणः**- मुख्य प्राण **स्वयम्**- स्वयं **चक्षुश्श्रोत्रे**- चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय में **प्रतितिष्ठते**- रहता है। **तु**- किन्तु **मध्ये**- नाभिस्थान में **समानः**- समान वायु रहता है। **एषः**- मुख्य प्राण **हि**- ही **एतत्**- इस **हुतम्**- खाये-पिए **अन्नम्**- अन्न को (पच जाने पर

टिप्पणी- 1. 'प्रातिष्ठते' इति च पाठान्तरः।

शरीर के सभी भागों में) **समम्**- समानरूप से **नयति**- पहुँचाता है। **तस्मात्**- अन्न के परिमाण को शरीर के सभी भागों में पहुँचाने से **एताः**- ये **सप्त**- सात **अर्चिषः**- ज्वालाएं **भवन्ति**- होती है।

व्याख्या

मुख और नासिका से संचरण करने वाला मुख्यप्राण स्वयं चक्षु और श्रोत्र में रहता है। वह मल-मूत्र को शरीर के बाहर निष्कासित करने के लिए अपान वायु को गुदा और मूत्र-इन्द्रिय में स्थापित करता है। रज, वीर्य और गर्भ का निष्कासन भी अपान का कार्य है। शरीर के मध्यभाग नाभि स्थान में समान वायु रहती है। जाठराग्नि में डाले गये (खाये-पिए) अन्नादि का परिणाम रस, रक्त, माँस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र ये सात धातुएं होती हैं। समान वायु इन सभी को शरीर के यथा योग्य सभी स्थानों पर समानरूप से पहुँचाती है, जिससे मनुष्य स्वस्थ बना रहता है। समान के द्वारा भोजन के परिणाम को सभी भागों में पहुँचाने से ऊपरी भाग में स्थित दो श्रोत्र, दो घ्राण, दो नेत्र और एक मुख ये सात ज्वालाएं होती हैं अर्थात् श्रोत्रादि अङ्ग भी स्वस्थ रहकर यथावत् कार्य करते रहते हैं। श्रोत्रादि 6 को विषय के प्रकाश (ज्ञान) का साधन होने से ज्वाला (प्रकाश) कहा गया है। प्रकाशक श्रोत्रादि के भी पोषण का हेतु भोजन करने का माध्यम होने से मुख को भी ज्वाला कहा जाता है।

अब आत्मा का निवास स्थान और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु का संचरण कहा जाता है-

षष्ठो मन्त्रः

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। आसु[1] व्यानश्चरति॥6॥

टिप्पणी- 1. तासु इति पाठान्तरः।

अन्वय

एषः हि आत्मा हृदि। अत्र नाडीनाम् एतत् एकशतम्। तासाम् एकैकस्यां शतं शतम्। द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। आसु व्यानः चरति।

अर्थ

एषः- यह **हि**- प्रसिद्ध **आत्मा**- आत्मा **हृदि**- हृदय में रहती है। **अत्र**- हृदय में **नाडीनाम्**- प्रधान नाडियों की (संख्या) **एतत्**- यह **एकशतम्**- एक सौ एक (101) है। **तासाम्**- उनमें **एकैकस्याम्**- प्रत्येक की **शतं शतम्**- सौ-सौ (100-100) शाखा नाडियाँ होती हैं। उन शाखा नाडियों में प्रत्येक की **द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः**- बहत्तर-बहत्तर **प्रतिशाखानाडीसहस्राणि**- हजार प्रतिशाखा नाडियाँ **भवन्ति**- होती हैं। **आसु**- इन सभी नाडियों में **व्यानः**- व्यानरूप प्राण **चरति**- विचरण करता है।

व्याख्या

आत्मा का स्थान- यह आत्मा शरीर के अन्तर्गत हृदय स्थान में रहती है।

व्यान वायु का संचरण- हृदय की 101 प्रधान नाडियाँ।

101 X 100 = 10100 शाखानाडियाँ।

10100 X 72000 = 727200000 प्रतिशाखा नाडियाँ।

इन सभी नाडियों में व्यान वायु संचरण करता है। व्यान वायु के संचारपथ नाडियों के मूलस्थान हृदय में ही आत्मा रहती है। यह द्योतित करने के लिए यहाँ प्राण के प्रसङ्ग में आत्मा की स्थिति कही है।

सप्तमो मन्त्रः

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति,
पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥7॥

अन्वय

अथ उदानः ऊर्ध्व एकया पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्याम् एव मनुष्यलोकम्।

अर्थ

अथ- व्यान वायु के संचरणस्थान के निरूपण के पश्चात् उदान के कार्य का निरूपण किया जाता है। **उदानः**- उदान वायु **ऊर्ध्व**- ऊपर की ओर गमनशील होकर (आत्मा को) **एकया**- किसी एक नाड़ी के द्वारा **पुण्येन**- पुण्य कर्म से **पुण्यं लोकम्**- स्वर्ग लोक को **नयति**- ले जाता है। **पापेन**- पाप कर्म से **पापम्**- नरक लोक को ले जाता है। **उभाभ्याम्**- पुण्य-पाप दोनों से **एव**- ही **मनुष्यलोकम्**- मनुष्य लोक को ले जाता है।

व्याख्या

कठोपनिषत् में कहा है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ होती हैं, उनमें एक सुषुम्ना नाड़ी मूर्धा की ओर निकलती है। ब्रह्मवेत्ता उस नाड़ी से ब्रह्मलोक जाकर मोक्ष प्राप्त करता है। मूर्धा को छोड़कर भिन्न दिशाओं में जाने वाली अन्य नाड़ियाँ विभिन्न योनियों में जाने वाले अज्ञानी प्राणी के उत्क्रमण के लिए होती हैं- **शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।**(क.उ.2.3.16)। इस कठ श्रुति के अनुसार सुषुम्ना से निष्क्रमण मोक्ष की प्राप्ति कराता है और उससे अतिरिक्त स्थानों में जाने के लिए **विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति** इस प्रकार अन्य नाड़ियाँ वर्णित हैं अतः प्रस्तुत प्रश्न श्रुति में एकया पद से सुषुम्ना से अतिरिक्त नाड़ी ग्रहण की जाती है। जगत् में सभी मानव पाप-पुण्य उभयविध कर्म करते हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य संभव नहीं जिसके जीवन में केवल पुण्य कर्म का आचरण हो क्योंकि प्रमाद से भी पाप की संभावना रहती है तथा ऐसा भी कोई संभव नहीं जिसके जीवन में सर्वथा पापाचरण ही हुआ हो क्योंकि कुछ न कुछ शुभ कर्म सभी करते ही हैं अतः श्रुति में आये पुण्येन का अर्थ है- पुण्य कर्म की बहुलता से और पापेन का अर्थ

है- पाप की बहुलता से। उदान वायु ऊपर की ओर गतिशील होकर एक नाड़ी के द्वारा जीवात्मा के पुण्य कर्म अधिक होने से उसे देवयोनि की प्राप्ति के हेतु स्वर्ग, महः, जनः, तपः और सत्यलोक में ले जाता है तथा पाप कर्म की अधिकता से नारकीय शरीर की प्राप्ति का हेतु नरक लोक और कूकर-शूकर आदि योनियों में ले जाता है। पुण्य-पाप दोनों के लगभग समान होने पर मनुष्य शरीर की प्राप्ति का हेतु पृथ्वीलोक में ले जाता है। मानवयोनि कर्मयोनि है, अन्य तो केवल भोगयोनियाँ हैं। मानवशरीर से किए शुभाशुभ कर्मों के फलभोग के लिए विविध योनियाँ प्राप्त होती हैं अतः पाप कर्म से सर्वथा विरत रहकर भगवदाराधनात्मक शुभ कर्म ही करने चाहिए। **आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतितिष्ठते** (प्र.उ.3.1) इस तृतीय प्रश्न का उत्तर **यथा सम्राट्** (प्र.उ.3.4) यहाँ से आरम्भ करके **अथैकयोर्ध्व उदानः**। (प्र.उ.3.7) यहाँ तक कहा गया। उसके साथ ही **अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति** इत्यादि रीति से **केनोत्क्रमते** (प्र.उ.3.1) इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया गया।

*प्राण बाह्यरूप से कैसे रहता है? और भीतर कैसे रहता है?- **कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्ममिति?** (प्र.उ.3.1) इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है-*

अष्टमो मन्त्रः

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता, सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य। अन्तरा यदाकाशः स समानः। वायुर्व्यानः॥8॥

अन्वय

ह वै आदित्यः बाह्यः प्राणः। हि एषः चाक्षुषम् एनम् प्राणम् अनुगृह्णानः उदयति। पृथिव्यां या देवता, सा एषा पुरुषस्य अपानम् अवष्टभ्य। अन्तरा यत् आकाशः, सः समानः। वायुः व्यानः।

अर्थ

ह वै- प्रसिद्ध **आदित्यः**- सूर्य **बाह्यः**- बाह्य **प्राणः**- प्राण है। **हि**- क्योंकि **एषः**- मुख्य प्राण **चाक्षुषम्**- चक्षु गोलक में विद्यमान **एनम्**- इस(चक्षु) **प्राणम्**- इन्द्रिय को (देखने का साधन प्रकाश प्रदान करके) **अनुगृह्णानः**- अनुगृहीत करता हुआ (बाहर आदित्यरूप से) **उदयति**- उदय होता है। **पृथिव्याम्**- पृथ्वी में **या**- जो **देवता**- प्राण की कलारूप देवता है, **सा**- वह **एषा**- देवता **पुरुषस्य**- पुरुष के **अपानम्**- अपान वायु से अधिष्ठित पायु और उपस्थ इन्द्रिय पर **अवष्टभ्य**- अनुग्रह करके रहता है। **अन्तरा**- आदित्य और पृथ्वी के मध्य में **यत्**- जो **आकाशः**- आकाश है। **सः**- वह **समानः**- समान है। त्वग् इन्द्रिय पर अनुग्रह करने वाला **वायुः**- बाह्य वायु **व्यानः**- व्यानरूप है।

व्याख्या

शरीर के अन्दर रहने वाला प्राण प्रसिद्ध है किन्तु बाहर रहने वाला प्राण क्या है? इस पर कहते हैं कि प्रसिद्ध आदित्य बाह्य प्राण है। चक्षुगोलक में विद्यमान चक्षु इन्द्रिय देखने का साधन है किन्तु प्रकाश के विना उससे देख नहीं सकते। मुख्य प्राण चक्षु को प्रकाश प्रदान करके अनुग्रह करते हुए बाह्य आदित्य रूप से उदय होता है। इस श्रुति में चक्षु को प्राण कहा है क्योंकि जैसे **चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः** (प्र. उ.3.5), यह श्रुति चक्षु में भी प्राण की स्थिति कहती है। जैसे चक्षु में रहने वाला प्राण चक्षु का उपकार करता है, वैसे ही आदित्य देखने का साधन प्रकाश प्रदान करके चक्षु का उपकार करता है, इस प्रकार प्राण और आदित्य की संमानता के कारण आदित्य को प्राण कहा है। प्राण कला (अंश) रूप से सर्वत्र रहता है, पृथ्वी में भी रहता है। प्राण की बहुत महिमा है इसलिए पृथ्वी में विद्यमान उसके अधिष्ठाता देवता को प्राण की कला कहा है। बाह्य अपानरूप पृथ्वी का अधिष्ठाता देवता अपानवायु से सुव्यवस्थित रहने वाले पायु और उपस्थ इन्द्रिय का उपकार करता है, जिससे वे स्वस्थ रहकर अपना कार्य संपादित करती हैं। सूर्य और पृथ्वी के मध्य में जो आकाश है, वह समान है। सूर्य

बाह्यप्राण है और पृथ्वी बाह्य अपान है। इनके मध्य में होने से आकाश बाह्य समान है। यहाँ आकाश से आकाश के अधिष्ठाता प्राणकला को लेना चाहिए, उसे उपचार से आकाश कहा है। जैसे शरीर के भीतर प्राण और अपान के मध्य में रहने वाले वायु को समान कहते हैं वैसे ही बाह्य प्राणरूप आदित्य और बाह्य अपानरूप पृथ्वी के मध्य में रहने से प्राणकलारूप आकाश को समान कहते हैं। त्वचा में अनेक रोमकूप विद्यमान होते हैं, जिससे मनुष्य बाहर स्थित वायु को ग्रहण करता है। इस प्रकार त्वक् इन्द्रिय का उपकार करने वाला बाह्य वायु होता है। वह वायु बाह्यव्यान है। प्राण बाहर आदित्यरूप से रहता है, वह चक्षु के अन्दर अनुग्राहकरूप से रहता है। अपान बाहर पृथ्वीरूप से रहता है और अन्दर पायु और उपस्थ के अनुग्राहकरूप से रहता है। इस प्रकार **कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्मम् इति?** इन प्रश्नों का उत्तर कहा गया।

बाह्य तेज उदानवायु का अनुग्राहक है इसलिए शरीर में विद्यमान उस तेज (उष्णता) के पूर्णतः निवृत्त होने पर सामान्य मनुष्य की देहान्तरप्राप्ति कही जाती है–

नवमो मन्त्रः

तेजो ह वा उदानः। तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ।।9।।

अन्वय

ह वै तेजः उदानः। तस्मात् उपशान्ततेजाः मनसि संपद्यमानैः इन्द्रियैः पुनर्भवम्।

अर्थ

ह वै- प्रसिद्ध **तेजः**- बाह्य तेज **उदानः**- उदान वायु है। **तस्मात्**- इसलिए **उपशान्ततेजाः**- जिसके शरीर का तेज शान्त हो जाता है, वह जीवात्मा **मनसि**- मन में **संपद्यमानैः**- लीन होने वाली **इन्द्रियैः**- इन्द्रियों के साथ (उस शरीर से निकलकर) **पुनर्भवम्**- पुनर्जन्म को प्राप्त करता है।

व्याख्या

पुनर्जन्म की प्राप्ति

शरीर के बाहर विद्यमान तेज उदान है क्योंकि वह आत्मा को देह से बाहर ले जाने में हेतु है- **उन्नयनहेतुत्वाद् उदानः**(प्रका.)। इसी उपनिषत् के पूर्व मन्त्र 3.8 में आदित्यरूप तेजोविशेष को मुख्यप्राण कहा था अतः प्रस्तुत श्रुति में तेज शब्द से बाहर रहने वाला तेजसामान्य लिया जाता है। शरीर के बाहर स्थित तेज (उष्णता) उन्नयन का हेतु है इसलिए जिसके शरीर की उष्णता पूर्णतः निवृत्त हो जाती है, वह आत्मा मन में लीन हुई इन्द्रियों के साथ उस शरीर से निकलकर उनके साथ जाकर अन्य देह को प्राप्त करती है। सूर्य और अग्नि की जो बाह्य उष्णता है, वह उदान का बाह्य स्वरूप है। वह शरीर के बाहर अङ्गों को शीतल नहीं होने देती और भीतर भी गर्मी को स्थिर रख़ती है। जिसके शरीर से उदान वायु निकल जाती है, उसका शरीर गर्म नहीं रहता, तब शरीर में रहने वाला जीवात्मा मन में प्रवेश की हुई इन्द्रियों के साथ दूसरे शरीर को प्राप्त करने के लिए चला जाता है।

पुनर्जन्म को प्राप्त करने के लिए मन में लीन इन्द्रियों से सम्बन्धित आत्मा और किससे सम्बन्धित होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

दशमो मन्त्रः

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति। प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति॥10॥

अन्वय

यच्चित्तः तेन एषः प्राणम् आयाति। प्राणः तेजसा युक्तः। आत्मना सह यथासङ्कल्पितं लोकं नयति।

अर्थ

मरणासन्न जीव मृत्यु के पूर्व क्षण में **यच्चित्तः**- देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जिस योनि में जन्म लेने के संकल्प वाला होता

है। **तेन**- उस संकल्प से **एषः**- जीवात्मा मन में विलीन (इन्द्रियों के सहित) **प्राणम्**- प्राण के साथ सम्बन्धविशेष को **आयाति**- प्राप्त करता है। **प्राणः**- प्राण **तेजसा**- तेज से **युक्तः**- संयुक्त होता है। वह **आत्मना**- परमात्मा से **सह**- संयुक्त (जीवात्मा को) **यथासङ्कल्पितम्**- संकल्प के अनुसार (नूतन शरीर की प्राप्ति के लिए) **लोकम्**- लोक में **नयति**- ले जाता है।

व्याख्या

मनुष्ययोनि कर्मयोनि है, उसमें किए कर्म का फल भोगने के लिए विविध योनियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य मरणपर्यन्त विविध-विचित्र शुभाशुभ कर्मों को करता ही रहता है। मृत्यु के ठीक पूर्व उनकी शीघ्रता से स्मृति होती है, फिर कर्म के परिणामस्वरूप जो अव्यवहित योनि प्राप्त होने वाली होती है, उसमें जन्म लेने का संकल्प जीव करता है। उसके अनुसार आगामी शरीर प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषत् में कहा है कि वाणी के सहित सभी इन्द्रियाँ मन में लीन होती हैं, मन प्राण में लीन होता है, प्राण तेज में लीन होता है और तेज परमात्मा में लीन होता है- **वाङ्[1] मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्** (छां.उ.6.8.6)। प्रश्नोपनिषत् 3.9 में मन में लीन इन्द्रियों से सम्बद्ध जीव कहा गया है अतः प्रस्तुत छान्दोग्य मन्त्र में मन पद से इन्द्रियों के लय का अधिकरण मन से संयुक्त जीव का ग्रहण होता है। जीव प्राण में लीन होता है। वह (इन्द्रियादि के सहित प्राण) तेज में लीन होता है। शरीर के आरम्भक भूतसूक्ष्म (पञ्चीकृतभूतसूक्ष्म) होते हैं, वे सूक्ष्मशरीर के घटक होते हैं, अतः यहाँ तेज से भूतान्तर से संसृष्ट तेज को लेना चाहिए। वह (इन्द्रियादि से लेकर तेजपर्यन्त सभी) परमात्मा में स्थित होता है। प्राण (इन्द्रिय, मन, प्राण, तेज तथा परमात्मा से संयुक्त) जीवात्मा को उसके कर्मों के अनुसार नूतन शरीर की प्राप्ति के लिए विभिन्न लोकों में ले जाता है। अन्तकाल में जीव की वाग् इन्द्रिय मन में स्थित हो जाती है। इसके पश्चात् अन्य 9 इन्द्रियाँ भी मन में स्थित

टिप्पणी - 1. यहाँ वाक् पद सभी इन्द्रियों का उपलक्षण है।

हो जाती हैं। इस समय मन से एक स्मरण होता है, इसे अन्तिम स्मरण कहते हैं, इसके अनुसार ही नवीन योनि की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र के अनुसार शरीर के उपादान पञ्च भूतसूक्ष्म के अन्तर्गत आने वाले तेज के सहित प्राण को उन्नयन का हेतु होने से तेज भी उन्नयन का हेतु होता है, अतः इसे उदान कहना उचित है तथा इसके सजातीय होने से पूर्व (3.9) मन्त्र में बाह्य तेज को भी उदान कहना उचित है।

प्राण का वर्णन करके अब उसकी उपासना का फल कहा जाता है-

एकादशो मन्त्रः

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयते, अमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥11॥

अन्वय

यः विद्वान् एवं प्राणं वेद। ह अस्य प्रजा न हीयते। अमृतः भवति। तत् एषः श्लोकः।

अर्थ

यः- जो **विद्वान्**- विद्वान् **एवं**- इस रीति से **प्राणम्**- प्राण की **वेद**- उपासना करता है। **ह**- प्रसिद्ध **अस्य**- इस विद्वान् की **प्रजा**- सन्तानपरम्परा **न**- नहीं **हीयते**- नष्ट होती है। वह **अमृतः**- मुक्त **भवति**- हो जाता है। **तत्**- प्राणोपासना के विषय में **एषः**- यह **श्लोकः**- श्लोक है।

व्याख्या

प्राणोपासना का फल

इस मन्त्र में विद्वान् पद से उपदेश से प्राप्त होने वाला ज्ञान कहा जाता है और वेद पद से उपासनात्मक ज्ञान वर्णित है। प्राण की परमात्मा से उत्पत्ति, प्राण का जीव के साथ शरीर में आगमन, पायु आदि स्थानों में स्थिति इत्यादि रीति से जो विद्वान् प्राण की उपासना करता है। उसकी

पुत्र-पौत्रादि वंशपरम्परा बनी रहती है। प्राणोपासक परिशुद्ध-आत्मस्वरूप के ज्ञानपूर्वक ब्रह्मोपासना से मुक्त हो जाता है। प्राणोपासना साक्षात् मुक्ति का हेतु नहीं है, फिर भी प्राण के कारणरूप से ब्रह्म ज्ञात होता है अत: उसकी उपासना परम्परा से मोक्ष का हेतु होती है। यदि उपासक केवल प्राणोपासना में प्रवृत्त रहा तो उसकी वंशपरम्परा क्षीण नहीं होती और यदि वह प्राण का कारण ब्रह्म को जानकर आगे ब्रह्मोपासना में प्रवृत्त होता है तो मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ वर्णित मुक्ति मुख्य फल है, वंशपरम्परा का विच्छेद न होना गौण फल है, ऐसा जानना चाहिए।

पूर्वोक्त प्राणविद्या के विषय में यह श्लोक है-

द्वादशो मन्त्रः

उत्पत्तिमायातिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते, विज्ञायामृतमश्नुत इति।12।।

अन्वय

प्राणस्य उत्पत्तिम् आयातिं स्थानं विभुत्वं च अध्यात्मं पञ्चधा एव च एव विज्ञाय अमृतम् अश्नुते, विज्ञाय अमृतम् अश्नुते इति।

अर्थ

प्राणस्य- प्राण की **उत्पत्तिम्**- उत्पत्ति को **आयातिम्**- आगमन को **स्थानम्**- स्थान को **विभुत्वम्**- स्वामित्व को **च**- और **अध्यात्मम्**- शरीर के अन्दर **पञ्चधा**- पाँच प्रकार से सन्निधान को **एव**- भी **च**- तथा बाहर सन्निधान को **एव**- भी **विज्ञाय**- जानकर **अमृतम्**- मोक्ष को **अश्नुते**- प्राप्त करता है। **विज्ञाय**- जानकर **अमृतम्**- मोक्ष को **अश्नुते**- प्राप्त करता है।

व्याख्या

प्राण की परमात्मा से उत्पत्ति, कर्म के कारण जीव के साथ शरीर में आगमन, **यथा सम्राडेवाधिकृतान्** (प्र.उ.3.4) इस प्रकार वर्णित स्वामित्वरूप विभुत्व, शरीर के अन्दर प्राण, अपान, समान,

उदान और व्यान भेद से पाँच प्रकार की स्थिति और बाहर आदित्य, पृथ्वी, आकाश, तेज और वायुरूप से पाँच प्रकार की स्थिति को जानकर ब्रह्मोपासना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है। **विज्ञाय अमृतमश्नुते** इसकी आवृत्ति प्रश्न के उत्तर की समाप्ति को सूचित करती है।

॥ तृतीय प्रश्न की व्याख्या समाप्त ॥

चतुर्थः प्रश्नः

अब इस प्रकरण में सुषुप्ति काल में प्राण की इतर से विलक्षणता का तथा सभी की परमात्मा में स्थिति का प्रतिपादन किया जाता है-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्।

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्! एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिन् जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति? कस्यैतत् सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति?॥1॥

अन्वय

अथ गार्ग्यः सौर्यायणी ह एनं पप्रच्छ। भगवन्! एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति? अस्मिन् कानि जाग्रति? एषः देवः कतरः स्वप्नान् पश्यति? कस्य एतत् सुखं भवति? कस्मिन् नु सर्वे संप्रतिष्ठिताः भवन्ति इति? ॥1॥

अर्थ

अथ- कौसल्य ऋषि के प्रश्न के पश्चात् **गार्ग्यः**- गर्ग के गोत्र में उत्पन्न **सौर्यायणी**- सौर्यायणी ऋषि ने ह- प्रसिद्ध **एनम्**- पिप्पलाद महर्षि से **पप्रच्छ**- पूँछा (कि) **भगवन्!**- हे भगवन्! **एतस्मिन्**- इस **पुरुषे**- पुरुष के स्वप्नावस्था में जाने पर **कानि**- कौन से करण (अपने

कार्य से) **स्वपन्ति**- उपरत होते हैं? और **अस्मिन्**- इस पुरुष के स्वप्नावस्था में जाने पर **कानि**- कौन **जाग्रति**- अपना कार्य करते रहते हैं? **एषः**- यह **देवः**- जीवात्मा **कतरः**- कैसा होकर **स्वप्नान्**- स्वप्न के पदार्थों को **पश्यति**- देखता है? **कस्य**- किस कारण का (फल) **एतत्**- वैषयिक **सुखम्**- सुख **भवति**- होता है? **कस्मिन्**- किस में नु- ही **सर्वे**- सभी **संप्रतिष्ठिताः**- भलीभांति स्थित **भवन्ति**- होते हैं?

व्याख्या

सौर्यायणी का प्रश्न

कौसल्य के प्रश्न के अनन्तर सौर्यायणी ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से पूँछा कि- 1.हे भगवन्! स्वप्नावस्था में जीवात्मा के जाने पर कौन से करण अपने कार्य से उपरत हो जाते हैं? और 2.कौन से करण अपने कार्यों को करते रहते हैं? 3.यह जीवात्मा कैसा होकर स्वप्न के पदार्थों का अनुभव करता है? 4. किस कारण का फल वैषयिक सुख होता है? तथा 5.सुषुप्ति अवस्था में सब किसमें स्थित होते हैं?

*जीवात्मा की स्वप्नावस्था में कौन से करण अपना कार्य नहीं करते हैं- **एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति?** (प्र.उ.4.1)। अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-*

द्वितीयो मन्त्रः

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताःपुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ॥2॥

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच, गार्ग्य! यथा अस्तं गच्छतः अर्कस्य सर्वाः मरीचयः एतस्मिन् तेजोमण्डले एकी भवन्ति। पुनः उदयतः ताः प्रचरन्ति। एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनसि एकी भवति। तेन तर्हि एषः पुरुषः न

शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति न रसयते, न स्पृशते न अभिवदते, न आदत्ते, न आनन्दयते, न विसृजते, न इयायते, स्वपिति इति आचक्षते।।2।।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- पिप्पलाद महर्षि ने **तस्मै**- सौर्यायणी गार्ग्य को **उवाच**- कहा (कि) **गार्ग्य**- हे गार्ग्य! **यथा**- जिस प्रकार **अस्तम्**- अस्ताचल को **गच्छतः**- जाते हुए **अर्कस्य**- सूर्य की **सर्वाः**- सभी **मरीचयः**- किरणें **एतस्मिन्**- इस **तेजोमण्डले**:- सूर्यमण्डल में **एकीभवन्ति**- एक हो जाती हैं। **पुनः**- फिर **उदयतः**- उदय होते हुए (सूर्य की) **ताः**- वे किरणें नाना दिशाओं में **प्रचरन्ति**- फैल जाती हैं। **एवम्**- इसी प्रकार **ह वै**- प्रसिद्ध **तत् सर्वम्**- इन्द्रियसमूह **परे**- 10 इन्द्रियों से पर **देवे**- प्रकाशकत्व गुण वाले **मनसि**- मन में **एकी भवति**- एक हो जाता है। **तेन**- उस कारण **तर्हि**- तब **एषः**- यह **पुरुषः**- जीवात्मा **न**- नहीं **शृणोति**- सुनता है, **न पश्यति**- नहीं देखता है, **न जिघ्रति**- नहीं सूँघता है, **न रसयते**- रस ग्रहण नहीं करता है **न स्पृशते**- स्पर्श को नहीं जानता है **न अभिवदते**- नहीं बोलता है, **न आदत्ते**- नहीं लेता है, **न आनन्दयते**- संभोग सुख नहीं लेता, **न विसृजते**- मल का विसर्जन नहीं करता, **न इयायते**- नही जाता। केवल **स्वपिति**- सोता है, **इति**- ऐसा **आचक्षते**- कहा जाता है।

व्याख्या

स्वप्नावस्था

जिस प्रकार सायंकाल अस्ताचल को जाते समय सूर्य की रश्मियाँ नाना दिशाओं में प्रसरित न होकर सूर्यमण्डल में स्थित हो जाती हैं और प्रातःकाल उसका उदय होने पर विभिन्न दिशाओं में प्रसरित होकर प्रकाश करने लगती हैं, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में जाते समय पुरुष की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने से पर मन में स्थित हो जाती हैं। उस समय दसों इन्द्रियों की मन में ऐसी अविभागेन स्थिति होती है, जिससे वे अपना कार्य निष्पन्न नहीं कर सकती हैं। अब इसे ही विस्तार से कहते हैं- सभी इन्द्रियों की मन में स्थिति होने से उस समय यह

पुरुष सुनता नहीं, देखता नहीं, सूँघता नहीं, स्वाद को नहीं जानता, स्पर्श को नहीं जानता, बोलता नहीं, किसी भी वस्तु को लेता नहीं, मैथुन सुख नहीं लेता, मल-मूत्र का त्याग नहीं करता, चलता नहीं बल्कि सोता है, ऐसा ही कहा जाता है। इस प्रकार स्वप्न काल में मन को छोड़कर चक्षु आदि अन्य इन्द्रियाँ अपने कार्यों से उपरत हो जाती हैं, यह प्रथम प्रश्न का उत्तर होता है। **ताः पुनः उदयतः प्रचरन्ति** इस दृष्टान्त के अनुसार जीव की जाग्रत अवस्था आने पर सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं, ऐसा जानना चाहिए। इस मन्त्र में स्वप्नावस्था का वर्णन किया गया है, सुषुप्ति का नहीं क्योंकि स्वप्न में इन्द्रियाँ अपने गोलकों को छोड़कर मन में स्थित होती हैं और सुषुप्ति में मन भी क्रियारहित हो जाता है। यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों की क्रियारहित होकर मन में स्थिति कही है, मन का क्रियारहित होना नहीं कहा।

*अब **कान्यस्मिन् जाग्रति?** इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-*

तृतीयो मन्त्रः

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥3॥

चतुर्थो मन्त्रः

यदुच्छ्वासनिश्वासौ, एतावाहुती। समं नयतीति समानः[1]। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥4॥

अन्वय

प्राणाग्नयः एव एतस्मिन् पुरे जाग्रति। एषः ह वै अपानः गार्हपत्यः। व्यानः अन्वाहार्यपचनः। यत् गार्हपत्यान् प्रणीयते, प्रणयनात् प्राणः आहवनीयः। यत् उच्छवासनिश्वासौ एतौ आहुती समं नयति इति समानः। ह मनः वाव

टिप्पणी- 1. स समानः इति पाठान्तरः।

यजमानः। उदानः एव इष्टफलम्। सः एनं यजमानम् अहरहः ब्रह्म गमयति।

अर्थ

चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापाररहित हो जाने पर **प्राणाग्नयः**- प्राणरूप अग्नियाँ **एव**- ही **एतस्मिन्**- इस **पुरे**- शरीररूप पुर में **जाग्रति**- जागती रहती हैं। **एषः**- यह **ह वै**- प्रसिद्ध **अपानः**- अपान वायु **गार्हपत्यः**- गार्हपत्य अग्नि है। **व्यानः**- व्यान वायु **अन्वाहार्यपचनः**- दक्षिणाग्नि है। **यत्**- क्योंकि **गार्हपत्यात्**- गार्हपत्य अग्नि से (आहवनीय अग्नि) **प्रणीयते**- ली जाती है। **प्रणयनात्**- गार्हपत्यरूप अपान से लिए जाने से **प्राणः**- प्राण **आहवनीयः**- आहवनीय अग्नि है। **यत्**- क्योंकि **उच्छ्वासनिश्वासौ**- श्वांस लेना और श्वांस छोडना **एतौ**- इन दोनो **आहुती**- आहुतियों को **समम्**- समानरूप से (बराबर) **नयति**- चलाता है **इति**- इसलिए **समानः**- समान वायु होम करने वाला ऋत्विक्-विशेष है। **ह**- प्रसिद्ध **मनः**- मन **वाव**- ही **यजमानः**- यजमान है। **उदानः**- उदान वायु **एव**- ही **इष्टफलम्**- होम का फल पुण्य है। **सः**- वह (पुण्यरूप उदान) **एनम्**- इस (मनरूप) **यजमानम्**- यजमान को **अहरहः**- प्रतिदिन **ब्रह्म**- ब्रह्म में **गमयति**- ले जाता है।

व्याख्या

जब पुरुष की चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने कार्यों से उपरत हो जाती हैं, तब शरीर नाम वाले पुर में प्राणरूप अग्नियाँ ही जाग्रत रहती हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समानरूप अग्नियाँ देह धारणरूप कार्य करती रहती हैं। यद्यपि **कान्यस्मिन् जाग्रति?** (प्र.उ.4.1) इस प्रश्न का प्राणा एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति यह उत्तर सम्भव है, फिर भी प्राण का अग्निरूप से कथन करके **प्राणाग्नयः एव** .... (प्र.उ.4.3) यह उत्तर उपासना (चिन्तन) के लिए है, ऐसा जानना चाहिए। अग्निहोत्री के घर में गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन और आहवनीय ये अग्नियाँ रहती हैं। स्वप्न काल में अग्नि क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं- प्रसिद्ध अपान वायु ही गार्हपत्य अग्नि है। अग्नि का आधान

करके अग्निहोत्र होम करने वाले के घर में गार्हपत्य अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, यह अन्य अग्नियों का मूल है। मूलाधार (गुदा) में स्थित होने के कारण अपान वायु गार्हपत्य अग्नि है। व्यान वायु अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि है। **अनु**-याग के पश्चात् चार ऋत्विक् को भोजन के लिए दिया जाने वाला **आहार्य**-भात अन्वाहार्यपचन कहलाता है, इसे जिस अग्नि से पकाते हैं, उसे भी अन्वाहार्यपचन कहते हैं। वह दक्षिण दिशा में स्थित होने से दक्षिणाग्नि भी कहलाती है। **अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानः।** (छां.उ.3.13.2), इस श्रुति के अनुसार व्यान वायु का हृदय के दाहिने छिद्र से सम्बन्ध है, इसलिए उसे यहाँ दक्षिणाग्नि कहा है। आहवनीय अग्नि में होम किया जाता है। होम करने के लिए प्रतिदिन इसे गार्हपत्य अग्नि से निकालते हैं। मन्त्र में अपान को गार्हपत्य अग्नि कहा है। मुख और नासिका से विचरण करने वाला प्राण मानों अपान से निकलता है। गार्हपत्यरूप अपान से निकलने (लेने) के कारण प्राण आहवनीय अग्नि है। उच्छ्वास और निश्वास ये दो आहुतियाँ हैं। वात, पित्त और कफ तथा रस, रक्त आदि धातुओं की शरीर में उचित स्थिति बनाए रखने के लिए समान वायु इन दोनों को बराबर चलाती है अर्थात् वह उनको प्राणरूप आहवनीय अग्नि में सतत् प्रक्षेप करती रहती है। इन्हें करने वाला समान वायु ऋत्विक्विशेष है। जैसे ऋत्विक् हविष का आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप करता है वैसे ही समान वायु उच्छ्वास और निश्वास का प्राण में प्रक्षेप करता है। मन ही यजमान है क्योंकि वह जाग्रत अवस्था में नाना प्रकार के शब्दादि विषयों में भ्रमण करने के कारण होने वाले श्रम को दूर करने के लिए स्वप्नरूप अग्निहोत्र में प्रवृत्त होता है। होम का फल पुण्य उदानवायु है जैसे होम का पुण्यरूप फल यजमान को स्वर्गादि लोक में ले जाता है, वैसे ही उदान वायु प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में मन को ब्रह्म में ले जाता है, इस कारण उदान को इष्टफल (पुण्य) कहा है। **तद् यथा हिरण्यनिधिम् ....** ।(छां.उ.8.3.2) इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार सुषुप्ति-अवस्था के समय जीव ब्रह्म में जाता है और प्रस्तुत प्रश्नश्रुति के अनुसार मन ब्रह्म में जाता है, इस प्रकार हृदय के अन्दर स्थित पुरीतत नाड़ी में विद्यमान ब्रह्म में दोनों का जाना सिद्ध होता है। अग्निहोत्र न

करने वाले को भी प्रस्तुत प्रश्नश्रुति के अनुसार उपासना करने से अग्निहोत्र का फल प्राप्त होता है[1], ऐसा जानना चाहिए। स्वप्न अग्निहोत्र कर्म है और सुषुप्ति उस कर्म के फलप्राप्ति की स्थिति है। स्वप्न में उच्छ्वास, निश्वास तथा मन के सहित प्राणरूप अग्नियाँ ही जागरण करती रहती हैं, ऐसा समझना चाहिए। स्वप्न और सुषुप्ति को विस्तार से समझने के लिए ''विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन'' ग्रन्थ अवलोकनीय है।

तृतीय मन्त्र में **गार्हपत्यो ह वै .....** इत्यादि रीति से अपान, व्यान और प्राण इन तीन वायु को अग्नि कहा, इसके पश्चात् समान और उदान को अग्नि नहीं कहा। इस प्रकार अग्नि व अग्निभिन्न दोनों के लिए **प्राणाग्नयः एव** इस प्रकार अग्नित्वेन कथन छत्रिन्याय[2] से है।

*यह जीवात्मा कैसा होकर स्वप्न के पदार्थों को देखता है? **-कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति?** अब इस प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करते हैं-*

पञ्चमो मन्त्रः

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननूभूतं च सच्चासच्च सर्व पश्यति, सर्वः पश्यति॥5॥

अन्वय

एषः देवः अत्र स्वप्ने महिमानम् अनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टम् अनु पश्यति। श्रुतं श्रुतम् अर्थम् एव अनु शृणोति च देशदिगन्तरैः प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं च अदृष्टं च श्रुतं च अश्रुतं च

टिप्पणी- 1. **प्राणान् यागाग्निरूपेण ध्यात्वा यागफलं व्रजेत** (अ.प्र.7.58)।

2. छत्रधारी व अछत्रधारी दोनों के समुदाय को सर्वथा अछत्रधारियों से पृथक् बताने के लिए छत्रधारी जाते हैं- छत्रिणो यान्ति, ऐसा कहा जाता है। यहाँ छत्रि शब्द से दोनों के समुदाय का बोध होता हैं। वैसे ही प्रस्तुत श्रुति में छत्रिन्याय से अग्नि शब्द से अग्नि और उससे भिन्न दोनों के समुदाय का बोध होता है।

अनुभूतं च अननुभूतं च सत् च असत् च सर्व पश्यति, सर्वः पश्यति।

अर्थ

एषः- यह **देवः**- जीवात्मा **अत्र**- सुषुप्ति से पूर्व **स्वप्ने**- स्वप्न में **महिमानम्**- ऐश्वर्य का **अनुभवति**- अनुभव करता है। **यद्**- जो **दृष्ट्म्**- देखा गया है, (उस) **दृष्टम्**- देखे गये को **अनु**- बाद(स्वप्न) में **पश्यति**- देखता है। जो **श्रुतम्**- सुना गया है, (उस) **श्रुतम्**- सुने गये **अर्थम्**- शब्द को **एव**- ही **अनु**- बाद में **शृणोति**- सुनता है। **च**- और **देशदिगन्तरैः**- प्रत्येक देश तथा अन्य दिशाओं में **प्रत्यनुभूतम्**- प्रत्येक दिन अनुभूत विषय का **पुनः पुनः**- वारम्वार **प्रत्यनुभवति**- अनुभव करता है। **दृष्टम्**- देखे गये **च**- और **अदृष्टम्**- न देखे गये **च**- तथा **श्रुतम्**- सुने गये **च**- और **अश्रुतम्**- न सुने गये **च**- तथा **अनुभूतम्**- अनुभव किये गये **च**- और **अननुभूतम्**- अनुभव न किए गये **च**- तथा **सत्**- विद्यमान् **च**- और **असत्**- अविद्यमान **सर्वम्**- सब को **पश्यति**- देखता है। **सर्वः**- सब रूपों वाला होकर **पश्यति**- देखता है।

व्याख्या

स्वप्न के पदार्थों का अनुभव

यह जीवात्मा गाढ़ निद्रा से पूर्व स्वप्नावस्था में हाथी, घोड़े आदि रूप महिमा का अनुभव करता है। वह किस-किस महिमा का अनुभव करता है? इसे कहते हैं- जो पहले जाग्रत अवस्था में देखा गया है, उस दृश्य को स्वप्नावस्था में देखता है, जो शब्द पहले सुना गया है, उसे स्वप्न में सुनता है। केवल एक स्थान या एक दिशा में ही नहीं, अपितु विभिन्न स्थानों और विभिन्न दिशाओं में पहले जिसका अनुभव किया गया है, उसका स्वप्नावस्था में पुनः पुनः अनुभव करता है , केवल इतना ही नहीं और भी सुनो- पूर्व में देखे गये और न देखे गये विषय को भी स्वप्न में देखता है, पूर्व में सुने गये और न सुने गये शब्द को भी सुनता है। पूर्व में अनुभूत पदार्थों को और कभी भी अनुभव न किये गये अपने शिर के छेदन को भी स्वप्न में देखता है तथा विद्यमान

सम्बन्धियों को और अविद्यमान पत्नी, पुत्रादि को भी देखता है। द्रष्टा, श्रोता, वक्ता इत्यादि सभी रूपों वाला होकर स्वप्न में सब का अनुभव करता है।

स्मृत्यात्मक तथा अनुभवात्मक भेद से स्वप्न दो प्रकार के होते हैं। यहाँ प्रश्नोपनिषत् में अनुभवात्मक स्वप्न वर्णित है। प्रश्नोपनिषत् 4.2 के अनुसार स्वप्नावस्था में जीव की चक्षु आदि इन्द्रियाँ मन में स्थित हो जाती हैं इसलिए उस समय जाग्रतकालिक चक्षु आदि इन्द्रियों से देखना, सुनना तथा सूँघना आदि कार्य नहीं होते हैं किन्तु मन अपने कार्य में लगा रहता है और प्रस्तुत मन्त्र 4.5 के अनुसार जीव जाग्रत काल में दृष्ट, श्रुत पदार्थों को स्वप्न में देखता है, सुनता है तथा पूर्व में अदृष्ट, अश्रुत पदार्थों को भी स्वप्न में देखता है, सुनता है। यह सब कैसे सम्भव है? इस पर उपनिषद् भाष्यकार श्रीरङ्गरामानुजमुनि जी कहते हैं कि स्वप्न में जाग्रतकालिक बाह्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की निवृत्ति होने पर भी जीव स्वप्नकालिक ईश्वररचित शरीर-इन्द्रिय से द्रष्टा आदि होकर अनुभव करता है - **तदानीं जागरीयबाह्यज्ञानकर्मेन्द्रियाणाम् उपरतव्यापारत्वेऽपि स्वाप्निकैः ईश्वरसृष्टैः शरीरेन्द्रियैः द्रष्टृत्वादिमान् सन् अनुभवति।** स्वप्नदर्शी पुरुष का जाग्रतकालिक शरीर एक स्थान पर निष्क्रिय होकर पड़ा रहता है किन्तु वह स्वप्न में उससे भिन्न अपने शरीर को देखता है, इससे स्वप्नकालिक शरीर की सृष्टि सिद्ध होती है। प्रश्नश्रुति 4.2 स्वप्न में मन से अतिरिक्त जाग्रतकालिक चक्षु आदि इन्द्रियों के कार्य के अभाव का निरूपण करती है किन्तु स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में चक्षु, श्रोत्र आदि से देखना, सुनना आदि कार्य करता रहता है, इतना ही नहीं अपितु जन्मान्ध व्यक्ति भी स्वप्न में रूप को देखता है, बधिर शब्द को सुनता है, इससे स्वप्न में चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की भी सृष्टि सिद्ध होती है।

*पूर्व प्रश्न के साथ ही ''वैषयिक सुख किस कारण का फल है?'' **कस्यैतत् सुखं भवति?** (प्र.उ..4.1)अब इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं-*

षष्ठो मन्त्रः

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ यद्[1] एतस्मिन् शरीर एतत् सुखं भवति॥6॥

अन्वय

सः यदा तेजसा अभिभूतः भवति। अत्र एषः देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ यत् एतत् सुखं भवति, एतस्मिन् शरीरे।

अर्थ

सः- जीवात्मा **यदा**- जब **तेजसा**- परमात्मा से **अभिभूतः**- आलिङ्गन को प्राप्त **भवति**- होता है। तब **अत्र**- सुषुप्ति अवस्था में **एषः**- यह **देवः**- जीवात्मा **स्वप्नान्**- स्वप्न के पदार्थों को **न**- नहीं **पश्यति**- देखता है। **अथ**- सुषुप्ति के पश्चात् **यत्**- जो **एतत्**- यह **सुखम्**- वैषयिक सुख **भवति**- होता है, वह **एतस्मिन्**- इस **शरीरे**- शरीर के होने पर ही होता है।

व्याख्या

सुषुप्ति

श्रुति में आए अभिभूत पद का अर्थ है- आलिङ्गित= संश्लिष्ट= सम्बन्धविशेष को प्राप्त। स्वप्नद्रष्टा जीव जब परमात्मा से आलिङ्गित होता है, तब सुषुप्ति अवस्था होती है। हे सोम्य! सुषुप्ति में यह जीव परमात्मा से संश्लिष्ट होता है- **सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** (छां. उ.6.81), सुषुप्ति में जीव परमात्मा से संयुक्त होता है- **तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति** (छां.उ.8.6.3)इस समय वह स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता है। इस स्थिति का बृहदारण्यक श्रुति इस प्रकार निरूपण करती है कि जैसे मनोऽनुकूल प्रिया भार्या से आलिङ्गन को प्राप्त मनुष्य न तो बाह्य घटादि पदार्थों को जानता है और न ही आन्तरिक शोक-मोहादि को, वैसे ही सर्वज्ञ परमात्मा से संश्लिष्ट जीव न तो बाह्य घटादि को

टिप्पणी- 1. तद् इति पाठान्तरः।

जानता है और न ही आन्तरिक शोक-मोहादि को- **तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्** (बृ.उ.4.3.21)। इस समय मन सहित जीवात्मा को परमात्मा में स्थित होने के कारण विषयप्रकाश के साधन उपरत होने से सुषुप्तिदशा जीव की ब्रह्म से आलिङ्गन को प्राप्त दशा है किन्तु जब चक्षु आदि इन्द्रियाँ कार्यों से उपरत होती हैं, पर मन उपरत नहीं होता तब ब्रह्म से आलिङ्गित न होने पर जीव स्वप्न के पदार्थों को देखता है, इस प्रकार **कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति?** (प्र.उ.4.1) इस प्रश्न का उत्तर कहा जाता है। सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् जाग्रत और स्वप्न में जो विषय सुख होता है, वह इस शरीर के विद्यमान होने पर ही होता है। इस प्रकार वैषयिक सुख शरीररूप कारण का फल होता है। यह **कस्यैतत् सुखं[1] भवति?** (प्र.उ.4.1) इस प्रश्न का उत्तर होता है। छान्दोग्य श्रुति कहती है कि शरीररहित जीव को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते - **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः** (छां.उ.8.12.1)। इस प्रकार सुख-दुःख का हेतु शरीर कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार **अथ**- सुषुप्ति के पश्चात् जागने पर ''मैं सुख से सोया'' इस प्रकार **यत्**- जो स्मर्यमाण **एतत्**- यह **सुखम्**- आत्मरूप सुख **भवति**- होता है, वह **एतस्मिन् शरीरे**- इस शरीर के होने पर होता है। स्वयंप्रकाश सुखरूप आत्मा अपने स्वरूप को सदा प्रकाशित करती रहती है किन्तु उस सुख का स्मरण तो सुषुप्ति के पश्चात् जागरण काल में ही होता है। शरीर के होने पर ही जाग्रत आदि अवस्थाएं होती है, इस प्रकार स्मरण के विषय सुख में शरीर हेतु होता है।

*सुषुप्ति-अवस्था में सब किसमें स्थित होते हैं? - **कस्मिन् नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति?**(प्र.उ.4.1) अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-*

टिप्पणी- 1. यहाँ सुखम् पद दुःख का उपलक्षण है।

सप्तमो मन्त्रः

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते।।7।।

अन्वय

सोम्य! सः यथा वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्व परे आत्मनि संप्रतिष्ठते।

अर्थ

सोम्य!- हे प्रियदर्शन गार्ग्य! सुषुप्ति में यह **सः**- दृष्टान्त है। **यथा**- जिस प्रकार **वयांसि**- पक्षी (सायंकाल) **वासोवृक्षम्**- निवास स्थान वृक्ष पर **संप्रतिष्ठन्ते**- स्थित हो जाते हैं, **एवम्**- इसी प्रकार सुषुप्ति में **ह वै**- प्रसिद्ध **तत्**- जीवात्मपर्यन्त **सर्वम्**- सभी **परे**- पर **आत्मनि**- आत्मा (ब्रह्म) में **संप्रतिष्ठते**- स्थित हो जाते हैं।

व्याख्या

महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि हे प्रियदर्शन सौर्यायणि! जिस प्रकार पक्षी दिन भर आहार आदि के लिए इधर-उधर विचरण करते हुए थक जाने पर सायंकाल विश्राम के लिए अपने निवास स्थान वृक्ष पर आकर स्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव जाग्रत और स्वप्न में विषयानुभव के लिए इधर-उधर विचरण करते हुए थक जाने पर विश्राम पाने के लिए इन्द्रिय, मन और प्राण के सहित अपने आश्रय स्थान परमात्मा में आकर स्थित हो जाता है। वृक्ष में स्थित होने पर भी पक्षी परस्पर में अत्यन्त संश्लिष्ट नहीं होते हैं, इसलिए श्रुति में **संप्रतिष्ठन्ते** इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गयां है किन्तु चक्षु इन्द्रिय से लेकर जीवात्मा तक सभी अत्यन्त संश्लिष्ट अर्थात् अविभाग को प्राप्त (एकीभूत) होकर स्थित होते हैं इसलिए संप्रतिष्ठते इस प्रकार एकवचन का प्रयोग किया है।

*पूर्वमन्त्र में **तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते** इस प्रकार वर्णित परमात्मा में अविभागेन स्थित होने वाले सभी क्या हैं? इस जिज्ञासा का*

उत्तर दो मन्त्रों से देते हैं-

अष्टमो मन्त्रः

पृथिवी च पृथिवीमात्रा च आपश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा च आकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च[1] रसयितव्यम् च त्वक् च स्पर्शयितव्यं व वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥8॥

अन्वय

पृथिवी च पृथिवीमात्रा च आपः च आपोमात्रा च तेजः च तेजोमात्रा च वायुः च वायुमात्रा च आकाशः च आकाशमात्रा च चक्षुः च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसः च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ च आदातव्यं च उपस्थः च आनन्दयितव्यं च पायुः च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनः च मन्तव्यं च बुद्धिः च बोद्धव्यं च अहंकारः च अहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजः च विद्योयितव्यं च प्राणः च विधारयितव्यं च।

अर्थ

पृथिवी- पृथ्वी **च**- और **पृथिवीमात्रा**- गन्धतन्मात्रा **च**- तथा **आपः**- जल **च**- और **आपोमात्रा**- रसतन्मात्रा **च**- तथा **तेजः**- तेज **च**- और **तेजोमात्रा**- रूपतन्मात्रा **च**- तथा **वायुः**- वायु **च**- और **वायुमात्रा**- स्पर्शतन्मात्रा **च**- तथा **आकाशः**- आकाश **च**- और **आकाशमात्रा**-शब्दतन्मात्रा **च**- तथा **चक्षुः**- चक्षु **च**- और **द्रष्टव्यम्**- देखने योग्य पदार्थ **च**- तथा **श्रोत्रम्**- श्रोत्र **च**- और **श्रोतव्यम्**- सुनने

टिप्पणी - 1. रसनं च इति पाठान्तरः।

योग्य **च**- तथा **घ्राणम्**- घ्राण **च**- और **घ्रातव्यम्**- सूँघने योग्य **च**- तथा **रसः**[1]- रसना **च**- और **रसयितव्यम्**- आस्वादन करने योग्य **च**- तथा **त्वक्**- त्वचा **च**- और **स्पर्शयितव्यम्**- स्पर्श करने योग्य **च**- तथा **वाक्**- वाक् **च**- और **वक्तव्यम्**- बोलने योग्य **च**- तथा **हस्तौ**- हाथ **च**- और **आदातव्यम्**- ग्रहण करने योग्य **च**- तथा **उपस्थः**- उपस्थ **च**- और (उससे जन्य) **आनन्दयितव्यम्**- सुख **च**- तथा **पायुः**- गुदा **च**- और **विसर्जयितव्यम्**- त्याज्य मल **च**- तथा **पादौ**- पैर **च**- और **गन्तव्यम्**- गन्तव्य स्थल **च**- तथा **मनः**- मन **च**- और **मन्तव्यम्**- मननीय वस्तु **च**- तथा **बुद्धिः**- निश्चयात्मिका वृत्ति **च**- और **बोद्धव्यम्**- जानने योग्य **च**- तथा **अहंकारः**- अहंकारात्मिका वृत्ति **च**- और **अहंकर्तव्यम्**- अहंकरणीय पदार्थ **च**- तथा **चित्तम्**- स्मरणात्मिका वृत्ति **च**-और **चेतयितव्यम्**- स्मरणीय वस्तु **च**-तथा **तेजः**-धर्मभूत ज्ञान **च**-और **विद्योयितव्यम्**- प्रकाश्य विषय **च**-तथा **प्राणः**- प्राण **च**- और **विधारयितव्यम्**- धारणीय शरीर (ये सभी सुषुप्तिकाल में परमात्मा में स्थित होते हैं।)

व्याख्या

अचेतन शरीरादि की परमात्मा में स्थिति

इस मन्त्र का आगामी मन्त्र में पठित **स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते** (प्र.उ.4.9) इस वाक्य से अन्वय होता है तब ''सुषुप्ति अवस्था में पृथ्वी से लेकर प्राणपर्यन्त सब परमात्मा में लीन (स्थित) होते हैं,'' यह अर्थ निष्पन्न होता है। श्रुति में आए मात्रा पद का अर्थ है- तन्मात्रा। भूतों की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व उनकी सूक्ष्मत्व (कारणत्व) अवस्था वाला द्रव्य तन्मात्रा कहलाता है। वे पाँच प्रकार की होती हैं- शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पञ्च भूतों की उत्पत्ति होती है। सुषुप्तिकाल में पृथ्वी आदि पञ्चभूत अपने उपादान तन्मात्राओं सहित परमात्मा में स्थित हो जाते हैं। द्रष्टव्य का अर्थ

टिप्पणी- 1. रस्यते अनेन इति रसः।

होता है- दर्शनयोग्य। चक्षु से द्रष्टव्य विषय रूप और रूपवान् पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय से श्रोतव्य विषय शब्द, घ्राण से घ्रातव्य विषय गन्ध, रसना से ग्राह्य विषय रस, त्वचा से ग्राह्य विषय शीत, उष्ण, मृदु और कठोर स्पर्श तथा इनका आश्रय द्रव्य। सुषुप्ति में चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ परमात्मा में लीन हो जाती हैं। वाक् इन्द्रिय से वक्तव्य वचन होता है। हाथ से ग्राह्य पदार्थ, उपस्थ (जननेन्द्रिय) से होने वाला सुख, पायु से होने वाला मलविसर्जन और पाद से गमन करने योग्य स्थान होते हैं। हस्त का विषय आदान-प्रदान पायु का विषय विसर्जन और पाद का विषय चलना ये सब लक्षणा से ज्ञात होते हैं। सुषुप्ति में वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ और वचनादि उनके विषय परमात्मा में लीन हो जाते हैं। यहाँ मन का अर्थ अन्तःकरण और मन्तव्य का अर्थ मननीय पदार्थ है। बुद्धि का अर्थ है- निश्चयात्मिका वृत्ति और बोद्धव्य का अर्थ है- उसका विषय (निश्चय करने योग्य)। अहंकार का अर्थ है- अहंकारात्मिका वृत्ति और अहंकर्तव्य का अर्थ है- उसका विषय(अहंकार करने योग्य)अर्थात् जिसमें अहं(आत्म)बुद्धि की जाती है, वह देहादि पदार्थ। चित्त का अर्थ है- स्मरणात्मिका वृत्ति और चेतयितव्य का अर्थ है , उसका विषय। यहाँ मन्तव्य पद से मनन, बोद्धव्य से निश्चय, अहंकर्तव्य से अभिमान तथा चेतयितव्य से स्मरण ज्ञात होते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त तथा उनके कार्य मनन, निश्चय, अभिमान और स्मरण ये सभी सुषुप्ति में परमात्मा में लीन हो जाते हैं। विधारयितव्य का अर्थ है- धारणीय शरीर। उस समय प्राण भी उसके सहित परमात्मा में स्थित हो जााता है। तेज का अर्थ है- आत्मा के आश्रित रहने वाला धर्मभूतज्ञान और विद्योयितव्य का अर्थ है- उससे प्रकाश्य (ज्ञेय) विषय। धर्मभूतज्ञान भी अपने कार्य प्रकाश के सहित परमात्मा में स्थित हो जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सुषुप्ति में प्राण परमात्मा में स्थित होने पर भी शरीर को धारण करनारूप उसका कार्य चलता रहता है, रुकता नहीं।

पृथ्वी आदि भूतों का परमात्मा में स्थित होने का अर्थ है- भूतों के संघातरूप शरीर का परमात्मा में स्थित होना। जीव अपने शरीर का नियामक होता है। जीव को नियमन करने के लिए ज्ञान और इच्छा

अपेक्षित होती हैं किन्तु सुषुप्ति में जीव का ज्ञान और इच्छा संभव नहीं इसलिए उस समय वह अपने शरीर का नियामक नहीं है, तब उसका शरीर परमात्मा से नियाम्य होता है, इसलिए भूतों के संघातरूप शरीर का परमात्मा में स्थित होना कहा जाता है। सुषुप्ति में जीव के शरीर का नाश नहीं होता अपितु उस समय उसके शरीर का साक्षात् नियामक परमात्मा होता है।

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों और मन को परमात्मा में स्थित होने का अर्थ है- उनका विभाग के अयोग्य संसर्गविशेष, जिससे वे अपना कार्यनिष्पादन नहीं कर सकती हैं। बुद्धि, अहंकार और चित्त के स्थित होने का अर्थ है- सुषुप्तिकाल में बुद्धि आदि वृत्तियों का अभाव। धर्मभूतज्ञान के स्थित होने का अर्थ है- उसका अत्यन्त संकुचित हो जाना, उस समय कर्मरूप अज्ञान से आवृत्त होने के कारण वह अत्यन्त संकुचित होकर रहता है।

उक्त मन्त्र से सुषुप्ति काल में देह, इन्द्रिय, मन तथा प्राण की परमात्मा में स्थिति कही गयी और अब चेतन आत्मा की भी उसमें स्थिति कही जाती है-

नवमो मन्त्रः

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥9॥

अन्वय

एषः पुरुषः हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा। सः अक्षरे परे आत्मनि संप्रतिष्ठते।

अर्थ

एषः- यह **पुरुषः**- आत्मा **हि**- ही **द्रष्टा**- देखने वाली **स्प्रष्टा**- स्पर्श करने वाली **श्रोता**- सुनने वाली **घ्राता**- सूँघने वाली

रसयिता- रसग्रहण करने वाली **मन्ता**- मनन करने वाली **बोद्धा**- ज्ञाता (जानने वाली) **कर्ता**- कर्ता (और) **विज्ञानात्मा**[1]- विज्ञानस्वरूप है। **सः**- वह आत्मा (सुषुप्ति काल में) **अक्षरे**- अविनाशी **परे**- परम (श्रेष्ठ) **आत्मनि**- आत्मा में **संप्रतिष्ठते**- स्थित होती है।

व्याख्या

द्रष्टा- द्रष्टा का अर्थ होता है- दर्शन करने वाला अर्थात् दर्शन का आश्रय। चक्षु इन्द्रिय से जन्य ज्ञान को दर्शन (देखना) कहते हैं। उससे रूप और रूपवान् पदार्थों का ज्ञान होता है। उस का आश्रय आत्मा द्रष्टा होती है।

स्प्रष्टा- स्पर्श और स्पर्शवाले पदार्थों के ज्ञाता को स्प्रष्टा कहते हैं। त्वक् इन्द्रिय से शीत, उष्ण, मृदु और कठोर स्पर्श का तथा इनके आश्रय पदार्थ का ज्ञान होता है, उसका आश्रय आत्मा स्प्रष्टा होती है।

श्रोता- श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, उसके आश्रय आत्मा को श्रोता कहते हैं।

घ्राता- घ्राता का अर्थ है- गन्ध का ज्ञान करने वाला। घ्राण इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है और उसका आश्रय आत्मा घ्राता होती है।

रसयिता- रसना इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, उसका आश्रय आत्मा रसयिता कही जाती है।

मन्ता- मनन के आश्रय को मन्ता कहते हैं। मन से मनन होता है और उसका आश्रय आत्मा मन्ता होती है।

बोद्धा- बोध का अर्थ है- ज्ञान, उसके आश्रय आत्मा को बोद्धा कहते हैं।

कर्ता- कृति (प्रयत्न) के आश्रय आत्मा को कर्ता कहते हैं।

विज्ञानात्मा- विज्ञान(ज्ञान) स्वरूप आत्मा को विज्ञानात्मा कहते हैं।

टिप्पणी- 1. विज्ञानात्मा- विज्ञानम् आत्मा स्वरूपमस्य विज्ञानरूपः(आ.भा.)।

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा

प्रस्तुत श्रुति आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञाता दोनों ही कहती हैं। इसमें बोद्धा पद से आत्मा को सामान्यरूप से ज्ञाता कहा जाता है और द्रष्टा इत्यादि पदों से विशेषरूप से ज्ञाता कहा जाता है। विज्ञानात्मा पद से आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। श्रुतिप्रमाणवादी सविशेषाद्वैत वेदान्ती आत्मा को ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप दोनों ही मानते हैं। स्वयं प्रकाश होने से आत्मा ज्ञानस्वरूप कही जाती है और विषयप्रकाशक ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञाता कही जाती है।

नैयायिक मत का निराकरण- नैयायिक विद्वान् आत्मा को ज्ञान का आश्रय (ज्ञाता) ही मानते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं मानते। प्रस्तुत श्रुति में विज्ञानात्मा पद के प्रयोग से उनका मत निरस्त हो जाता है।

सांख्य और शांकर मत का निराकरण- सांख्य और शांकर मतानुयायी विद्वान् आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं, ज्ञाता नहीं मानते। उक्त श्रुति में बोद्धा पद के प्रयोग से उनका मत निराकृत हो जाता है।

इस विषय को विस्तार से समझने के लिए ''विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन'' ग्रन्थ में ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा प्रकरण को देखना चाहिए।

चेतन आत्मा की परमात्मा में स्थिति

सुषुप्ति काल में ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा तथा शरीरादि अचेतन पदार्थ परमात्मा में स्थित होते हैं। यहाँ परमात्मा से पृथक् व्यवहार के अयोग्य सबका संसर्ग होना ही स्थित होना है। .... **विज्ञानात्मा पुरुषः परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।** इस प्रकार श्रुति एक वाक्य का प्रयोग न करके .... **विज्ञानात्मा पुरुषः। सः परेऽक्षर· आत्मनि संप्रतिष्ठते** ऐसे भिन्न वाक्य का प्रयोग करती है। इससे पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित अचेतन पदार्थों की अपेक्षा चेतन आत्मा की प्रधानता ज्ञात होती है और इससे भी परमात्मा की प्रधानता ज्ञात होती है।

दशमो मन्त्रः

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो[1] भवति। तदेष श्लोकः॥10॥

अन्वय

तु सोम्य! यः ह वै तत् अच्छायम् अशरीरम् अलोहितं शुभ्रम् अक्षरं वेदयते। यः अक्षरम् परम् एव प्रतिपद्यते। सः सर्वज्ञः भवति, सः सर्वः, तत् एष श्लोकः।

अर्थ

तु- किन्तु **सोम्य**- हे सोम्य! **यः**- जो **ह वै**- प्रसिद्ध **तत्**- सब का आधार **अच्छायम्**- कर्मरूप अज्ञान से रहित **अशरीरम्**- शरीर से रहित **अलोहितम्**- रूप से रहित **शुभ्रम्**- स्वप्रकाश **अक्षरम्**- अविनाशी ब्रह्म की **वेदयते**- उपासना करता है। वैसा **यः**- जो **अक्षरम्**- अविनाशी **परम्**- परमात्मा को **एव**- ही **प्रतिपद्यते**- प्राप्त करता है। **सः**- वह **सर्वज्ञः**- सर्वज्ञ **भवति**- हो जाता है। **सः**- वह **सर्वः**- सभी अभीष्ट पदार्थों से युक्त होता है। **तत्**- परमात्मा के विषय में **एषः**- यह (आगे कहा जाने वाला) **श्लोकः**- मन्त्र है।

व्याख्या

ब्रह्मस्वरूप और ब्रह्मवेत्ता की महिमा

मन्त्र में आए तद् पद से पूर्व मन्त्र में वर्णित चेतनाचेतन सबके आधार का ग्रहण होता है। यद्यपि अच्छायम् का अर्थ छायारहित हो सकता है, निरवयव अमूर्त परमात्मस्वरूप की छाया नहीं हो सकती, उनके निरतिशय दीप्तिमान दिव्यमङ्गलविग्रह की भी छाया नहीं होती फिर भी वह अशरीरम् के हेतुरूप से वर्णित है, इसलिए उसका कर्मरूप अज्ञान से रहित अर्थ है। पुण्य-पापरूप कर्मो से ही शरीर प्राप्त होते हैं,

---

टिप्पणी-1.सर्वी इति पाठान्तरः। सर्वमस्यास्तीति सर्वीति इनिप्रत्ययान्तः शब्द इति भावः।

परमात्मा का कोई कर्म ही नहीं हैं, अतः वह शरीर से रहित है। यहाँ शरीर से रहित का अर्थ है- प्राकृत शरीर से रहित। कर्म का फल भोगने के लिए प्राकृत शरीर प्राप्त होता है, परमात्मा का प्राकृत शरीर नहीं है किन्तु भक्तों के ध्यान का आलम्बन बनने के लिए उनका अप्राकृत-शरीर शास्त्र से सिद्ध हैं[1]। प्राकृत शरीर में प्राकृत रूप होता है। परमात्मा के शरीर में प्राकृत रूप नहीं हैं किन्तु अप्राकृत रूप है, अप्राकृत गन्ध है। परमात्मस्वरूप स्वयं प्रकाश है, अविनाशी है। जो उसकी उपासना करता है, वह अविनाशी परमात्मा को ही प्राप्त करता है, सर्वज्ञ हो जाता है और अवाप्तसमस्तकाम हो जाता है। उस ब्रह्म के विषय में यह मन्त्र प्रवृत होता है-

एकादशो मन्त्रः

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति॥11॥

अन्वय

सोम्य! यत्र सर्वैः देवैः सह प्राणाः भूतानि च विज्ञानात्मा संप्रतिष्ठन्ति। यः शुभ्रम् अक्षरं तु वेदयते, सः सर्वज्ञः सर्वम् आविवेश एव इति।

अर्थ

सोम्य!- हे प्रियदर्शन! **यत्र**- जिस परमात्मा में **सर्वैः**- सभी **देवैः**- इन्द्रियों **सह**- सहित **प्राणाः**- प्राण **भूतानि**- भूत **च**- और **विज्ञानात्मा**- जीवात्मा **संप्रतिष्ठन्ति**- स्थित होते हैं। **यः**- जो (उस) **शुभ्रम्**- स्वयंप्रकाश **अक्षरम्**- अविनाशी परमात्मा को **तु**- निश्चित रूप से **वेदयते**- जानता है। **सः**- वह **सर्वज्ञः**- सर्वज्ञ होता है और **सर्वम्**- सभी लोकों में **आविवेश**- प्रवेश करता **एव**- ही है।

टिप्पणी- 1. इसका विशद विवेचन ''विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन'' ग्रन्थ में और ईशावास्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में देखना चाहिए।

व्याख्या

हे सोम्य! जिस परमात्मा में सभी इन्द्रियों के सहित पञ्चप्राण, पञ्चभूत और जीवात्मा ये सभी स्थित होते हैं, उस स्वयं प्रकाश अविनाशी परमात्मा का जो साक्षात्कार करता है, वह मुक्तात्मा सभी को जानने वाला होता है। कर्मरूप अविद्या से धर्मभूत ज्ञान संकुचित होने के कारण बद्ध जीव अल्पज्ञ होता है, परमात्मसाक्षात्कार से बन्धन के हेतु कर्म की निवृत्ति होने से उसका ज्ञान सब का प्रकाश करने वाला होता है, उससे अज्ञात कुछ भी नहीं रहता, वह सर्वज्ञ हो जाता है। छान्दोग्य श्रुति भी कहती है कि ब्रह्मदर्शी सबका साक्षात्कार करता है- **सर्वं ह पश्यः पश्यति** (छां.उ.7.26.2)। मुक्त पुरुष का भगवद्विभूतिरूप सभी लोकों में यथेच्छ संचरण होता है- **तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**।(छां.उ.7.25.2) क्योंकि प्रतिबन्धक कर्म विद्यमान नहीं होते। मुक्त की इच्छा भगवद्-इच्छा के अधीन ही होती है।

॥ चतुर्थ प्रश्न की व्याख्या समाप्त॥

पञ्चमः प्रश्नः

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्। अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥1॥

अन्वय

अथ शैब्यः सत्यकामः ह एनं पप्रच्छ। भगवन्! मनुष्येषु सः यः ह वै प्रायणान्तम् ओङ्कारम्[1] अभिध्यायीत। तत्[2] सः तेन कतमं लोकं वाव जयति इति।

अर्थ

अथ- सौर्यायणी के प्रश्न के पश्चात् **शैब्यः**- शिबि के पुत्र

टिप्पणी- 1.ओम् एव ओंकारः तम्।
2. तद् इति अव्ययपदम्।

सत्यकामः- सत्यकाम ने **ह**- प्रसिद्ध **एनम्**- पिप्पलाद महर्षि से **पप्रच्छ**- पूँछा (कि) **भगवन्**- हे भगवन्! **मनुष्येषु**- मनुष्यों में **सः**- वह **यः**- जो **ह वै**- प्रसिद्ध ध्यानयोगी (उपासक) **प्रायणान्तम्**- मृत्युपर्यन्त **ओङ्कारम्**- ओङ्कार का **अभिध्यायीत**- ध्यान करे, **तत्**- ओंकार का ध्यान करने के कारण **सः**- वह **तेन**- ओंकार से **कतमम्**- किस **लोकम्**- लोक को **वाव**- निश्चितरूप से **जयति**- प्राप्त कर लेता है?

व्याख्या

सत्यकाम का प्रश्न

सौर्यायणी के प्रश्न के अनन्तर शैब्य सत्यकाम ने प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलाद से पूँछा कि भगवन्! मनुष्यों में जो प्रसिद्ध ध्यानयोगी आजीवन ओंकार का ध्यान (उपासना) करता है, वह ओंकार का ध्यान करने के कारण उससे किस लोक को प्राप्त करता है? परमात्मा का नाम ओंकार है- **तस्य वाचकः प्रणवः** (यो.सू.1.27)। ओम् यह एक अक्षर वाला शब्द परमात्मा का नाम है- **ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म** (गी.8.13) इस मन्त्र में प्रोक्त ओंकार के ध्यान का अर्थ है- ओंकार के अर्थ परमात्मा का ध्यान अर्थात् ओंकार का आलम्बन लेकर की जाने वाली परमात्मोपासना।

द्वितीयो मन्त्रः

तस्मै स होवाच, एतद् वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद् विद्वान् एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।।2।।

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच। सत्यकाम! यत् ओंकारः एतत् वै परं च अपरं च ब्रह्म। तस्मात् विद्वान् एतेन आयतनेन एव एकतरम् अन्वेति।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- महर्षि पिप्पलाद ने **तस्मै**- शैब्य सत्यकाम से **उवाच**- कहा (कि) **सत्यकाम!**- हे सत्यकाम! **यत्**- जो **ओंकारः**- ओंकार है, **एतत्**- यह **वै**- ही है **परम्**- पर **च**- और **अपरम्**- अपर

ब्रह्म- ब्रह्म है। **तस्मात्**- इसलिए **विद्वान्**- उपासक **एतेन**- ओंकाररूप **आयतनेन**- आलम्बन से **एव**- ही **एकतरम्**- पर अथवा अपर ब्रह्म की **अन्वेति**- उपासना करता है।

व्याख्या

ओंकार की उपासना

यद्यपि जगत्कारण सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को परब्रह्म और चर्तुमुख ब्रह्मा को अपर ब्रह्म कहते हैं किन्तु यहाँ वैसा नहीं है। सभी फलों को देने वाले परमात्मा ही हैं। मोक्षफल प्रदान करने से वे परब्रह्म कहे जाते हैं। इस लोक के फल प्रदान करने से तथा अन्तरिक्ष आदि लोकों के फलप्रदान करने से अपर ब्रह्म कहे जाते हैं। महर्षि पिप्पलाद ने सत्यकाम से कहा कि ओंकार ही परब्रह्म और अपर ब्रह्म है। यहाँ ओंकार वाचक शब्द है तथा परब्रह्म और अपरब्रह्म वाच्य अर्थ हैं, इस प्रकार वाच्यवाचक भाव होने से ओंकार को ही पर और अपर ब्रह्म कहा जाता है[1]। पर और अपर ब्रह्म ओंकार है इसलिए वही ब्रह्मोपासना का आलम्बन है, अत: उपासक ओंकार आलम्बन से पर ब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म की उपासना करता है।

यद्यपि 'उपासक ओंकार से किस लोक को प्राप्त करता है? **कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति?** (प्र.उ.5.1) इस प्रकार पूर्व में पूँछे गये प्रश्न के अनुरूप ही 'उपासक पर ब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म के लोक को प्राप्त करता है'- **विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति** (प्र.उ.5.2) यह उत्तर संभव है तथापि ओंकार और ब्रह्म में अभेद निर्देश से उनका वाच्य-वाचकभाव ज्ञात होता है इसलिए ओंकार शब्द से की जाने वाली ब्रह्म की उपासना को ही ग्रहण करना उचित है। प्रश्न का साक्षात् उत्तर तो **मनुष्यलोकम्** (प्र.उ.5.3), **सोमलोकम्** (प्र.उ.5.4) **ब्रह्मलोकम्** (प्र.उ.5.5) इस प्रकार आगे कहा जायेगा।

तृतीयो मन्त्रः

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्याम्

टिप्पणी- 1. वाच्यवाचकभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यम् (प्रका.)।

अभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥3॥

अन्वय

स: यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत, स: तेन एव संवेदित: तूर्णम् एव जगत्याम् अभि संपद्यते। तम् ऋच: मनुष्यलोकम् उपनयन्ते। स: तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्न: महिमानम् अनुभवति।

अर्थ

स:- उपासक **यदि**- यदि(अपर ब्रह्म के वाचक) **एकमात्रम्**- एक मात्रा वाले ह्रस्व प्रणव के वाच्य अपर ब्रह्म का **अभिध्यायीत**- निरन्तर ध्यान (उपासना) करे (तो) **स:**- वह **तेन**- एकमात्रा वाले प्रणव से **एव**- ही **संवेदित:**- सामर्थ्य वाला होकर **तूर्णम्**- शीघ्र **एव**- ही **जगत्याम्**- इस लोक में **अभि**- श्रेष्ठ **संपद्यते**- हो जाता है और **तम्**- उसे (मृत्यु के पश्चात् ह्रस्व ओंकार से सम्बन्ध रखने वाले) **ऋच:**- ऋक् मन्त्र (के अधिष्ठाता देवता) **मनुष्यलोकम्**- मनुष्यलोक में **उपनयन्ते**- ले जाते हैं। **स:**- वह **तत्र**- मनुष्य लोक में **तपसा**- तप से **ब्रह्मचर्येण**- ब्रह्मचर्य से (और) **श्रद्धया**- श्रद्धा से **सम्पन्न:**- युक्त होकर **महिमानम्**- मोक्ष का साधन उपासना का **अनुभवति**- अनुष्ठान करता है।

व्याख्या

अपर ब्रह्म की उपासना

वाचक का आलम्बन वाच्य के ध्यान के लिए ही किया जाता है अत: **एकमात्रमभिध्यायीत** का अर्थ है- एक मात्रा वाले ह्रस्व[1] ओंकार से उसके वाच्य अपर ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करे। इस प्रकार अपर ब्रह्म का ध्यान करने से उस (अपर ब्रह्म) से सामर्थ्य वाला होकर

टिप्पणी- 1. एक मात्रा वाले वर्ण को ह्रस्व कहते हैं - **एकमात्रिको ह्रस्व:** (च. सू.4.4) । सामवेदियों में सात्यमुग्रि और राणायन प्रोक्त शाखाओं के अध्ययनकर्ता अर्ध एकार और अर्ध ओकार पढ़ते हैं- **छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारम् अर्धमोकारं चाधीयते।**(म.भा.1.1.2 ए ओ ङ् सूत्रे)।

शीघ्र ही लोक में श्रेष्ठ हो जाता है। यह उसके ध्यान की महिमा है। मृत्यु के पश्चात् ऋक् मन्त्र पुनः उसे मनुष्यलोक में मनुष्य शरीर की प्राप्ति कराते हैं, तब अन्तःकरण की शुद्धि के साधन तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर ब्रह्मोपासना करता है और उससे मोक्ष को प्राप्त करता है। यह अर्थ रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार लिखा गया है, आनन्दभाष्य के अनुसार तप आदि से युक्त होकर **महिमानम्**- इस लोक में प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य का **अनुभवति**- अनुभव करता है। यदि मुमुक्षा है तो ब्रह्मोपासना करता है अन्यथा इस लोक के भोगों को भोगता है, इस प्रकार अधिकारी भेद से दोनों अर्थ युक्तिसंगत होते हैं।

चतुर्थो मन्त्रः

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥4॥

अन्वय

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते। सः यजुर्भिः अन्तरिक्षं सोमलोकम् उन्नीयते। सः सोमलोके विभूतिम् अनुभूय पुनः आवर्तते।

अर्थ

अथ यदि- यदि (अपर ब्रह्म के वाचक) **द्विमात्रेण**- दो मात्रा वाले दीर्घ ओंकार से (उपासक के) **मनसि**- मन में (अपर ब्रह्म का ध्यान) **सम्पद्यते**- सम्पन्न होता है। तो **सः**- वह **यजुर्भिः**- यजुर्मन्त्रों (के अधिष्ठाता देवताओं) के द्वारा **अन्तरिक्षम्**- अन्तरिक्ष में स्थित **सोमलोकम्**- चन्द्रलोक में **उन्नीयते**- पहुँचाया जाता है। **सः**- वह **सोमलोके**- चन्द्रलोक में **विभूतिम्**- ऐश्वर्य का **अनुभूय**- अनुभव करके **पुनः**- पुनः (मनुष्य लोक में) **आवर्तते**- आ जाता है।

व्याख्या

दो मात्रा वाले वर्ण को दीर्घ कहते हैं- **द्विमात्रिको दीर्घः** (च.

सू.45)। जो उपासक दो मात्रा वाले ओंकार (ओ2म्) से मन (हृदय) में अपर ब्रह्म का ध्यान करता है, वह यजुर्मन्त्रों के द्वारा चन्द्रलोक पहुँचाये जाने पर सुख भोग कर पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में आ जाता है- **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** (गी.9.21)। प्रस्तुत मन्त्र में पठित सोमलोक शब्द सत्यलोकपर्यन्त सभी पुण्यलोकों का बोधक है, यह ईक्षतिकर्माधिकरण (ब्र.सू.1.3.4) के श्रीभाष्य में कहा गया है। अन्तरिक्ष लोक से लेकर स्वर्गादि सभी प्राकृत लोकों से पुनः इस लोक में आगमन होता है।

पञ्चमो मन्त्रः

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः।।5।।

अन्वय

पुनः यः त्रिमात्रेण ओम् इति एतेन अक्षरेण एव एतं परं पुरुषम् अभिध्यायीत। यथा पादोदरः[1] त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै सः पाप्मना विनिर्मुक्तः। सः तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। सः सामभिः ब्रह्मलोकम् उन्नीयते। सः एतस्मात् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते। तत् एतौ श्लोकौ भवतः।

अर्थ

पुनः- पुनः **यः**- जो(पर ब्रह्म का वाचक) **त्रिमात्रेण**- तीन मात्रा वाले **ओम्**- ओम् **इति**- इस **एतेन**- प्लुत **अक्षरेण**- अक्षर से **एव**- ही **एतम्**- इस **परम्**- परम **पुरुषम्**- पुरुष का **अभिध्यायीत**- निरन्तर ध्यान करे तो **यथा**- जैसे **पादोदरः**- सर्प **त्वचा**- पुरानी केंचुल से **विनिर्मुच्यते**- मुक्त हो जाता है। **एवम्**- इसी प्रकार **ह वै**- प्रसिद्ध

टिप्पणी- 1. उदरमेव पादः यस्य सः पादोदरः (प्रका.)।

सः- उपासक **पाप्मना**- पाप से **विनिर्मुक्तः**- मुक्त हो जाता है। **सः**- वह **तेजसि**- तेजोमण्डल **सूर्ये**- सूर्यलोक में **सम्पन्नः**- जाता है। **सः**- वह **सामभिः**- साममन्त्रों (के अधिष्ठाता देवताओं) से **ब्रह्मलोकम्**- पर ब्रह्म के लोक में **उन्नीयते**- पहुँचाया जाता है। **सः**- वह **एतस्मात्**- इस **जीवघनात्**- बद्ध जीव से **परात्**- पर परिशुद्ध आत्मा से **परम्**- पर **पुरिशयम्**- सभी प्राणियों में अन्तरात्मारूप से निवास करने वाले **पुरुषम्**- परमात्मा का **ईक्षते**- साक्षात्कार करता है। **तत्**- ओंकार के ध्यान के विषय में **एतौ**- वक्ष्यमाण **श्लोकौ**- दो मन्त्र **भवतः**- होते हैं।

व्याख्या

परब्रह्म की उपासना

त्रिमात्रिक वर्ण को प्लुत कहते हैं- **त्रिमात्रिको प्लुतः** (च.सू. 46)। अ+उ+म् = ओम्। अकार, उकार और मकार इन तीन वर्णों को मिलाने से ओम् शब्द बनता है। यह एक अक्षर कहलाता है। जो पर ब्रह्म के वाचक तीन मात्रा वाले ओ3म् इस प्लुत अक्षर से परब्रह्म का निरन्तर ध्यान करता है, उसके क्रियमाण और संचित सभी कर्म अनायास उसी प्रकार छूट जाते हैं, जैसे सर्प की केंचुल छूट जाती है। इसके पश्चात् वह अर्चिरादि मार्ग से तेजोमण्डलरूप सूर्य लोक में जाता है। प्रकृति के बन्धन से युक्त आत्मा को बद्ध कहते हैं और प्रकृति के बन्धन से विनिर्मुक्त आत्मा को परिशुद्ध कहते हैं, बद्ध आत्मा से पर परिशुद्ध आत्मा है। उससे पर सभी प्राणियों के हृदय गुहा में निवास करने वाले परमात्मा हैं। सूर्य लोक से क्रमशः पर ब्रह्मलोक में साम मन्त्रों के द्वारा पहुँचाया जाता है। श्रुतप्रकाशिकाकार ने 'ससामभिः' ऐसा पाठ मानकर सामगान के सहित पहुँचाया जाता है, यह अर्थ किया है अथवा सान्त्वनावचनों के सहित आतिवाहिक पुरुषों द्वारा पहुँचाया जाता है, यह अर्थ भी संभव है। वहाँ उपासक परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उसके ध्यान के विषय में आगामी दो श्लोक कहे जाते हैं-

षष्ठो मन्त्रः

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः[1] प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः[2]।

क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥6॥

अन्वय

अन्योन्यसक्ताः अनविप्रयुक्ताः प्रयुक्ताः तिस्रः मात्राः मृत्युमत्यः बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु क्रियासु सम्यक् प्रयुक्तासु ज्ञः न कम्पते।

अर्थ

अन्योन्यसक्ताः- परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट और **अनविप्रयुक्ताः**- अत्यन्त दूर **प्रयुक्ताः**- उच्चरित **तिस्रः**- तीनों **मात्राः**- मात्राएं **मृत्युमत्यः**- अनर्थ की जनिका हैं। **बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु**- यज्ञादि, मानस जप और ध्यान तथा वाचिक जपरूप **क्रियासु**- कर्मो में (तीनों मात्राएं) **सम्यक्**- ठीक से **प्रयुक्तासु**- उच्चरित होने पर फल का जनक होती हैं। (कर्मो को) **ज्ञः**- जानने वाला (फल से) **न**- नहीं **कम्पते**-च्युत होता है।

व्याख्या

ओंकारोपासना की महिमा

पूर्व में **एकमात्रम्**(प्र.उ.5.3) इस प्रकार एकमात्रिक ह्रस्व ओंकार, **द्विमात्रेण** (प्र.उ.5.4) इस प्रकार द्विमात्रिक दीर्घ ओंकार और **त्रिमात्रेण** (प्र.उ.5.5) इस प्रकार त्रिमात्रिक प्लुत ओंकार कहा गया किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में ओम् के घटक अकार, उकार और मकार इन तीनों को मात्रा कहा गया है। अकार, उकार और मकार ये तीनों पाद मात्राएं हैं - **मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति** (मां.उ.3.1)। ऊपर (5.3-5.5) तीन मन्त्रों में प्रणव के द्वारा ब्रह्मोपासना कही गयी। यज्ञ, होम, दान आदि बाह्य कर्म हैं, मानस जप और ध्यान आन्तरिक कर्म हैं तथा वाचिक जप और पाठ मध्यवर्ती कर्म हैं। इन सभी कर्मों में ओंकार का उच्चारण किया जाता है, उसका उच्चारण कैसे करना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं- अत्यन्त शीघ्रता से उच्चरित और अत्यन्त

टिप्पणी- 1. मृत्युमन्त्यः इति पाठान्तरः।

2. विप्रयुक्ताः न भवन्तीत्यविप्रयुक्ताः न अविप्रयुक्ताः अनविप्रयुक्ताः (उ.ख.)।

विलम्ब से उच्चरित तीनों मात्राएं उपासक के अनर्थ की जनिका हैं अतः शीघ्रता और विलम्ब से रहित ओंकार का सम्यक् उच्चारण करना चाहिए, यह अभिप्राय है। यज्ञादि कर्मों में भी सम्यक् उच्चारण करना चाहिए, ऐसा जानकर कर्म करने वाला फल को अवश्य प्राप्त करता है।

सप्तमो मन्त्रः

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवायतने[1]नान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥7॥

अन्वय

ऋग्भिः एतं, यजुर्भिः अन्तरिक्षं तत्, कवयः यत् वेदयन्ते, विद्वान् ओंकारेण आयतनेन एव सामभिः तम् अनु एति। यत् शान्तम् अजरम् अमृतम् च अभयं परं तत् इति।

अर्थ

उपासक ह्रस्व ओंकार की उपासना से मृत्यु के पश्चात् **ऋग्भिः**- ऋक् मन्त्रों के द्वारा **एतम्**- मनुष्यलोक को जाता है। दीर्घ ओंकार की उपासना से **यजुर्भिः**- यजुर्मन्त्रों के द्वारा मृत्यु के पश्चात् **अन्तरिक्षम्**- अन्तरिक्ष में स्थित **तत्**- चन्द्रलोक जाता है। **कवयः**- क्रान्तदर्शी **यत्**- जिस स्थान को **वेदयन्ते**- जानते हैं। **विद्वान्**- उपासक **ओंकारेण**- प्लुत ओंकाररूप **आयतनेन**- आलम्बन से **एव**- ही **सामभिः**- साममन्त्रों के द्वारा **तम्**- उस लोक (स्थान) को **अनु**- मृत्यु के पश्चात् **एति**- जाता है। (और वहाँ) **यत्**- जो **शान्तम्**- 6 ऊर्मि से रहित **अजरम्**- जरा से रहित **अमृतम्**- मृत्यु से रहित **च**-और **अभयम्**- भय से रहित **परम्**- सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है। **तत्**- उसको प्राप्त करता है।

व्याख्या

क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु ये 6 ऊर्मि कही जाती हैं।

टिप्पणी- 1. अयनेन इति पाठान्तरः।

इनसे रहित होने के कारण परमात्मा शान्त हैं। प्लुत ओंकाररूप आलम्बन से परब्रह्म की उपासना करने वाला मरकर साममन्त्रों के द्वारा उसके लोक में जाता है। वहाँ वह शान्त, अजर, अमृत और अभय परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, इसे ही पूर्व में **परात्परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते** (प्र. उ.5.5) इस प्रकार कहा था। इस लोक में उपासना से परमात्मसाक्षात्कार होने पर क्रियमाण और संचित पापपुण्यात्मक कर्मों का नाश होता है, फिर अप्राकृत ब्रह्मलोक जाता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है।

॥ पञ्चम प्रश्न की व्याख्या समाप्त ॥

षष्ठः प्रश्नः

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्! अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैनं[1] प्रश्नमपृच्छत, षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ इति[2]। तमहं कुमारमब्रुवम्, नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषम् कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति,योऽनृतमभिवदति, तस्मान् नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि, क्वासौ पुरुष इति॥1॥

अन्वय

अथ भारद्वाजः सुकेशा ह एनं प्रपच्छ। भगवन्! कौसल्यः राजपुत्रः हिरण्यनाभः माम् उपेत्य एनं प्रश्नम् अपृच्छत, भारद्वाज! षोडशकलं पुरुषं वेत्थ इति। अहं तं कुमारम् अब्रुवम्, अहम् इमं न वेद, यदि अहम् इमम् अवेदिषम्, ते कथं न अवक्ष्यम् इति? यः अनृतम् अभिवदति, एषः वै समूलः परिशुष्यति। तस्मात् अनृतं वक्तुं न अर्हामि। सः तूष्णीं रथम् आरुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि, असौ पुरुषः क्व इति।

अर्थ

अथ- सत्यकाम के प्रश्न के पश्चात् **भारद्वाजः**- भरद्वाज के

टिप्पणी- 1. 'एतम्' इति पाठान्तरः।

2. 'इति' इति पदं नास्ति कस्मिन्चित्संस्करणे।

पुत्र **सुकेशा**- सुकेशा ने **ह**- प्रसिद्ध **एनम्**- पिप्पलाद महर्षि से **पप्रच्छ**- पूँछा (कि) **भगवन्**- हे भगवन् **कौसल्यः**- कौशल देश के अधिपति **राजपुत्रः**- राजपुत्र **हिरण्यनाभः**- हिरण्यनाभ ने **माम्**- मेरे **उपेत्य**- समीप आकर **एनम्**- इस **प्रश्नम्**- प्रश्न को **अपृच्छत्**- पूँछा (कि) **भारद्वाज**- हे भारद्वाज (तुम) **षोडशकलम्**- षोडश कलाओं वाले **पुरुषम्**- पुरुष को **वेत्थ**- जानते हो। **अहम्**- मैंने **तम्**- उस **कुमारम्**- कुमार को **अब्रुवम्**- कहा (कि) **अहम्**- मैं **इमम्**- सोलह कला वाले पुरुष को **न**- नहीं **वेद**- जानता हूँ। **यदि**- यदि **अहम्**- मैं **इमम्**- इसे **अवेदिषम्**- जानता (तो) **ते**- आपको **कथम्**- क्यों **न**- नहीं **अवक्ष्यम्**- कहता? **यः**- जो **अनृतम्**- मिथ्यावचन **अभिवदति**- बोलता है। **एषः**- यह (मिथ्याभाषी) **वै**- निश्चितरूप से **समूलः**- पुण्यकर्मों के सहित **परिशुष्यति**- नष्ट हो जाता है। **तस्मात्**- इसलिए (मैं) **अनृतम्**- मिथ्या **वक्तुम्**- बोलने में **न**- नहीं **अर्हामि**- समर्थ हूँ। **सः**- हिरण्यनाभ नाम वाला कोसल देश का अधिपति **तूष्णीम्**- चुपचाप **रथम्**- रथ पर **आरुह्य**- बैठकर **प्रवव्राज**- तेजी से चला गया। मैं **तम्**- उस प्रश्न को **त्वा**- आपसे **पृच्छामि**- पूँछता हूँ (कि) **असौ**- सोलह कला वाला **पुरुषः**- पुरुष **क्व**- कहाँ रहता है।

व्याख्या

सुकेशा[1] का प्रश्न

कोसल देश का शासक राजा का ही पुत्र है, इसे सूचित करने के लिए श्रुति राजपुत्र शब्द का प्रयोग करती है और वह अभी युवक है, इसे सूचित करने के लिए आगे कुमार शब्द का प्रयोग करती है। ऋषिकुल में उत्पन्न होने वाले सुकेशा ऋषि षोडशकला वाले पुरुष को

टिप्पणी - 1. महर्षि पिप्पलाद के पास ब्रह्मजिज्ञासा से जाने वाले 6 ऋषियों में सुकेशा अत्यन्त प्रबुद्ध हैं अतः उपनिषत् के उपक्रम में इनका प्रथम उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य ऋषियों के पूर्वोत्तर निर्देश में ज्ञान का तारतम्य कारण है। इन ऋषियों ने प्रश्न करने से पहले अपने - अपने जिज्ञासित विषय का परस्पर में परामर्श करके 'प्रथम प्रजा की सृष्टि के विषय में प्रश्न होना चाहिए, इसके पश्चात् इन्द्रियविषयक और तदुपरान्त प्राणविषयक' इत्यादि रीति से क्रम का निर्धारण करके प्रश्न किया।

जानते हैं, ऐसा राजा हिरण्यनाभ समझता है इसलिए वह उस पुरुष की जिज्ञासा से सुकेशा के पास जाकर पूँछता है, तब सुकेशा कहते हैं कि मैं उसे नहीं जानता, इस बात पर हिरण्यनाभ को विश्वास नहीं होता और वह समझता है कि ये जानते हुए भी छिपा रहे हैं, अतः ऋषि समझाते हैं कि यदि मैं जानता तो अवश्य उपदेश करता। जो मिथ्या भाषण करता है, वह कल्याण के साधन शुभकर्मों सहित नष्ट हो जाता है। इससे उसने समझा कि ये वास्तव में नहीं जानते हैं तब वह अवज्ञा जैसा प्रदर्शित करते हुए चुपचाप शीघ्र वहाँ से चला गया। इससे सुकेशा का लज्जित होना सिद्ध है। कोशलदेश के शासक के वृतान्त को उपस्थित करके प्रश्न करने से महर्षि पिप्पलाद से अतिशय कृपाप्रप्ति की आकांक्षा सिद्ध होती है। षोडश कला वाला पुरुष जीवात्मा है? या परमात्मा? इसका निर्णय आधारस्थान के द्वारा करने के लिए 'यह पुरुष कहाँ रहता है?'- **क्वासौ पुरुष इति** इस प्रकार प्रश्न किया गया है।

द्वितीयो मन्त्रः

तस्मै स होवाच। इहैवान्तश्शरीरे सोम्य स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥2॥

अन्वय

ह सः तस्मै उवाच। सोम्य! यस्मिन् एताः षोडशकलाः प्रभवन्ति इति। सः पुरुषः इह शरीरे एव अन्तः।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध **सः**- महर्षि पिप्पलाद ने **तस्मै**- सुकेशा से **उवाच**- कहा (कि) **सोम्य**- हे सोम्य! **यस्मिन्**- जिसमें **एताः**- ये **षोडशकलाः**- सोलह कलाएं (अपने संसर्ग से जन्य सुख-दुःख का भोग प्रदान करने में) **प्रभवन्ति**- समर्थ होती हैं। **सः**- वह **पुरुषः**- पुरुष **इह**- इस **शरीरे**- शरीर में **एव**- ही **अन्तः**- अन्दर है।

व्याख्या

16 कला वाला पुरुष

आगे चतुर्थ मन्त्र में प्राणादि से लेकर नामपर्यन्त षोडश कलाओं का वर्णन किया जायेगा। हे प्रियदर्शन! 16 कला वाला वह पुरुष इस शरीर के अन्दर ही रहता है, इस प्रकार उस पुरुष का सीमित परिमाण वाली देह आधार कहा जाने से वह (पुरुष) जीवात्मा ही है, परमात्मा नहीं क्योंकि परमात्मा का आधार केवल देह नहीं, वह तो भीतर, बाहर तथा मध्य इन सभी स्थानों में रहता है किन्तु 16 कला वाला पुरुष शरीर के अन्तर्गत हृदय में रहता है। जब उसके साथ प्राणादि कलाओं का संसर्ग होता है, तब संसर्ग से उसमें सुख-दुःख का भोग होता है, उस भोगरूप उपकार को करने में कलाएं समर्थ होती हैं। षोडशकला के संसर्ग से जन्य सुखादि का भोक्ता होना ही षोडशकला वाला होना है। इस प्रकार श्रुति में कहा गया षोडश कला वाला पुरुष जीवात्मा ही है।

तृतीयो मन्त्रः

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहम्[1] उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति[2]।।3।।

अन्वय

सः ईक्षांचक्रे। कस्मिन् उत्क्रान्ते अहम् उत्क्रान्तः भविष्यामि। वा कस्मिन् प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि इति।

अर्थ

सः- 16 कला वाले पुरुष ने **ईक्षांचक्रे**- विचार किया (कि देह से) **कस्मिन्**- किसके **उत्क्रान्ते**- उत्क्रमण करने (निकलने) पर **अहम्**-मैं **उत्क्रान्तः**- उत्क्रान्त **भविष्यामि**- हो जाऊँगा। **वा**- और **कस्मिन्**- किसके **प्रतिष्ठिते**- प्रतिष्ठित होने पर (मैं) **प्रतिष्ठास्यामि**- प्रतिष्ठित हो जाऊँगा।

टिप्पणी- 1. कस्मिन्वहम् इति पाठान्तरः।

2. प्रतिष्ठितस्यामीति इति प्रतिपदार्थदीपिकासम्मतः पाठः।

व्याख्या

पुरुष का संकल्प

"देह से किसकी उत्क्रान्ति (निकलने) के अधीन मेरी उत्क्रान्ति है?" यह पुरुष का विचार नहीं है अपितु जब मैं उत्क्रान्त होऊँगा, तब मेरे साथ कौन उत्क्रान्त होगा, यह विचार है अर्थात् देह से मेरे साथ किसके निकलने पर मैं निकलूँगा? मेरे उत्क्रमण काल में किसका उत्क्रमण होगा। जिसके विना मेरा शरीर नहीं रहेगा तथा मेरे स्थित होने पर कौन स्थित होगा? यह विचार किया।

चतुर्थो मन्त्रः

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥4॥

अन्वय

सः प्राणम् असृजत। प्राणात् श्रद्धां खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी इन्द्रियम् मनः अन्नम् अन्नात् वीर्यं तपः मन्त्राः कर्म च लोकाः च लोकेषु नाम।

अर्थ

सः- पुरुष ने **प्राणम्**- प्राण को **असृजत**- उत्पन्न किया, **प्राणात्**- प्राण से **श्रद्धाम्**- श्रद्धा को **खम्**- आकाश को **वायुः**[1]- वायु को **ज्योतिः**- तेज को **आपः**- जल को **पृथिवी**- पृथ्वी को **इन्द्रियम्**- इन्द्रियों को **मनः**- मन को **अन्नम्**- अन्न को **अन्नात्**- अन्न से **वीर्यम्**- सामर्थ्य को **तपः**- तप को **मन्त्राः**- मन्त्रों को **कर्म**- कर्म को **च**- तथा **लोकाः**- स्वर्गादि लोकों को **च**- और **लोकेषु**- उन लोकों में **नाम**- नाम को उत्पन्न किया।

टिप्पणी- 1. अत्र व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमा इति भावः, एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

व्याख्या

16 कलाओं की रचना

16 कला वाले पुरुष जीवात्मा ने पूर्वोक्त प्रकार से विचार करके अपने साथ ही देह से उत्क्रमण करने वाले और साथ ही देह में स्थित रहने वाले मुख्य प्राण की रचना की और उससे श्रद्धा को रचा। श्रद्धा का अर्थ है- आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् वेदोक्त कर्म आदि सभी विषयों में विश्वास। प्राण से ही आकाशादि पञ्चभूत, वागादि इन्द्रियाँ, अन्तर इन्द्रिय मन, अन्न उसके अधीन शरीर- इन्द्रिय का सामर्थ्य, शास्त्रीयविधि से शरीर का शोषणरूप तप, ऋक्- यजु- साम मन्त्र, अग्निहोत्रादि कर्म,उनके फल स्वर्गादि लोक और तत्सम्बन्धी स्वर्ग आदि नामों को रचा। तप और कर्म की रचना का अर्थ है- उनके स्वरूप को समझाना। मन्त्र की रचना का अर्थ है- ऋक् आदि मन्त्रों का उच्चारण करना और नाम को लेना ही नाम को उत्पन्न करना है।

निर्माणकर्ता किसी कार्य को करने से पूर्व उसका विचार (संकल्प) करता है, इस प्रकार विचारपूर्वक सृष्टि सिद्ध होती है, पूर्वमन्त्र में विचार करने वाला जीवात्मा कहा गया । अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसे ही प्राणादि का उत्पादक कहा है। यद्यपि जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का कर्ता है, वही प्राण आदि षोडश कलाओं का भी कर्ता है। वह जीवों के अदृष्ट (पुण्य-पाप) के अनुसार फलभोग के लिए पदार्थों की रचना करता है, इस प्रकार प्राणादि की रचना के हेतु अदृष्ट के जनक कर्मों का कर्ता जीवात्मा है इसलिए उनकी रचना का कर्ता जीवात्मा कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। अतः जीवात्मा ने अपने भोग के साधन कलाओं के हेतु अदृष्ट के जनक कर्मों को करके उन (कलाओं) को रचा। इस प्रकार उन (कलाओं) के संसर्ग से जन्य सुखादि का भोक्ता षोडशकला वाला जीवात्मा ही यहाँ कर्तारूप से प्रतिपादित है। पुरुष ने प्राण से अन्नपर्यन्त सब की रचना की किन्तु अन्न से वीर्य आदि की रचना की, यह तात्पर्य नहीं है किन्तु उनकी भी प्राण से रचना की, ऐसा जानना चाहिए।

शंका- मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है क्योंकि घट का उपादान मृत्तिका है किन्तु श्रद्धा का उपादान प्राण नहीं है तो प्राण से श्रद्धा

की उत्पत्ति कैसे कही जाती है?

समाधान- आपका कथन सत्य है किन्तु प्राण से अन्य 15 कलाओं में श्रद्धा की प्रधानता है क्योंकि उसके विना जीवित रहने पर भी प्राणी की किसी भी पुरुषार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए प्राण से श्रद्धा की उत्पत्ति कही जाती है। उक्त शंका के परिहार के लिए ही श्रुति **खं वायु .... मनः** ऐसा कथन करती है। पाञ्चभौतिक शरीर को उत्पन्न करके उसमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मन के सहित पञ्चवृत्तिवाले प्राण को स्थापित करना ही प्राण की सृष्टि करना है। सभी फलों की प्राप्ति का साधन शरीरधारण है। उसके लिए उपयोगी आहार में श्रद्धा को उत्पन्न करने वाला प्राण है इसलिए भी प्राण से श्रद्धा की उत्पत्ति कही जाती है। इस प्रकार मनपर्यन्त कलाओं की सृष्टि प्राण की सृष्टि के अन्तर्गत है, वह श्रद्धा से पूर्व होती है। अन्न आदि कलाओं की सृष्टि बाद में होती है, इसे सूचित करने के लिए ही 'अन्नम्' इस पद का अन्य पदों के समान एक बार प्रयोग करने के पश्चात् पुनः 'अन्नाद्' ऐसा हेतु रूप से कहा है। अन्न के न होने पर वीर्य (सामर्थ्य) आदि संभव नहीं अतः प्रथम अन्न में श्रद्धा होती है। **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** (तै.उ.2.1.2)। इस श्रुति में प्रथम आकाश की उत्पत्ति कही है अतः प्रस्तुत प्रश्नश्रुति में भी भूतों की उत्पत्ति के प्रसंग में प्रथम आकाश की और इसके पश्चात् वायु से लेकर पृथ्वीपर्यन्त भूतों की उत्पत्ति वर्णित है। इन पञ्चभूतों से निर्मित शरीर में इन्द्रिय, मन और प्राण के सहित जीवात्मा रहता है, फिर श्रद्धा होती है, इस प्रकार 9 कलाओं की उत्पत्ति कहकर अन्य 7 कलाएं कही जाती हैं। प्राण से (श्रद्धा द्वारा) अन्न की उत्पत्ति होती है। (प्राणद्वारा) अन्न से वीर्य होता है, वीर्य होने पर तप होता है। तप वाला व्यक्ति मन्त्रों को प्राप्त करता है। मन्त्रों से अग्निहोत्रादि कर्म होते हैं। कर्म से स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं और उनके स्वर्गादि नाम होते हैं। यहाँ नाम से सभी नाम विवक्षित नहीं हैं अपितु कर्म के फल स्वर्गादि से सम्बन्ध रखने वाले नाम विवक्षित हैं, इसका बोध कराने के लिए ही मन्त्र में 'लोकेषु' इस प्रकार पुनः लोक को ग्रहण किया है।

शंका-जीवात्मा के शरीर के जो आरम्भक हैं और उनसे साध्य

जो कर्म तथा उनके फल हैं, उन सब को कला कहना उचित है क्योंकि वे जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं किन्तु स्वर्गादिनाम उससे सम्बन्ध रखने वाले नहीं हैं अतः उन्हें कला कहना उचित नहीं।

समाधान-यह शंका उचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार कर्मानुष्ठान में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है उसी प्रकार 'स्वर्गप्राप्त्यर्थमनेन कर्मणा यक्ष्ये।' इस प्रकार फल का भी नाम लिया जाता है अतः नाम का भी जीव के साथ सम्बन्ध होने से नाम को जीव की कला कहना उचित है।

जीवात्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्राणादि 16 कलाओं के अधीन है इसलिए वह षोडशकल है किन्तु परमात्मा वैसा नहीं है इसलिए वह अकल है। अब उसके अकलत्व तथा मुमुक्षुवेद्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है[1]-

पञ्चमो मन्त्रः

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां[2] **नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः॥5॥**

अन्वय

स्यन्दमानाः समुद्रायणाः इमाः नद्यः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, तासां नामरूपे भिद्येते, समुद्रः इति एवं प्रोच्यते। यथा सः। एवम् एव अस्य

टिप्पणी-1. षोडश कला वाला पुरुषसम्बन्धी प्रश्न केवल उसके स्वरूप को जानने के लिए नहीं किया गया है अपितु जिसका ज्ञान उसके मोक्ष का साधन है, उसका निश्चय करने के उद्देश्य से किया गया है अतः 16 कला वाले पुरुष का निरूपण सम्पन्न होने पर उससे विलक्षण मोक्ष का साध न ज्ञान के विषय का निरूपण करने के लिए आचार्य प्रवृत्त होते हैं, यह भाव है।

2. 'चासाम्' इति पाठान्तरः।

परिद्रष्टुः पुरुषायणाः इमाः षोडशकलाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, तासां नामरूपे भिद्येते, पुरुषः इति एवं प्रोच्यते। सः एषः अकलः अमृतः भवति। तत् एषः श्लोकः।

अर्थ

स्यन्दमानाः- बहती हुई **समुद्रायणाः**[1]- समुद्र की ओर जाने वाली **इमाः**- गङ्गा आदि **नद्यः**- नदियाँ **समुद्रम्**- समुद्र को **प्राप्य**- प्राप्तकर **अस्तम्**- अदृश्य **गच्छन्ति**- हो जाती हैं। तब **तासाम्**- उन नदियों के **नामरूपे**- नाम-रूप **भिद्येते**- नहीं रहते और **समुद्रः**- समुद्र है **इति एवम्**- इस प्रकार **प्रोच्यते**- कहा जाता है। **यथा**- जैसे **सः**- वह दृष्टान्त है। **एवम्**- ऐसे **एव**- ही (मुक्त होने वाले) **अस्य**- इस **परिद्रष्टुः**- ब्रह्मदर्शी की **पुरुषायणाः**[2]- परमपुरुष की ओर जाने वाली **इमाः**- प्राणादि **षोडशकलाः**- 16 कलाएं **पुरुषम्**- परमपुरुष को **प्राप्य**- प्राप्त करके **अस्तम्**- अदृश्य **गच्छन्ति**- हो जाती हैं। तब **तासाम्**- उन कलाओं के **नामरूपे**- नामरूप **भिद्येते**- नहीं रहते और **पुरुषः**- परम पुरुष है। **इति एवम्**- इस प्रकार **प्रोच्यते**- कहा जाता है। **सः**- वह **एषः**- परम पुरुष **अकलः**- कलारहित (और) **अमृतः**- मृत्युरहित **भवति**- होता है। **तत्**- परम पुरुष के विषय में **एषः**- वक्ष्यमाण **श्लोकः**- श्लोक है।

व्याख्या

जैसे प्रवहित होते हुए गङ्गा आदि नदियाँ समुद्र से अपृथक्स्थिति और अपृथक्प्रतीति के योग्य होकर समुद्र को प्राप्त कर अस्त हो जाती हैं, उसमें जल की वृद्धिरूप विकार को नहीं करती हैं। उनके पूर्व में जो गङ्गा आदि नाम तथा शुक्लत्व आदि रूप होते हैं, समुद्र में प्रवेश के पश्चात् वे नहीं रहते। उस समय नदियों की समुद्र से अपृथक्स्थिति

टिप्पणी-1. अत्र अयनशब्देन आधारत्वमुखेन आत्मत्वम् उच्यते। समुद्रात्मिकाः समुद्रापृथक्स्थितिप्रतिपत्तियोग्या भूत्वा(प्रका.)

2. पुरुषसंकल्पाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकाः इत्यर्थः (प्रका.)।

और अपृथक्प्रतीति होने से 'समुद्र है', यही कहा जाता है। उसमें प्रवेश की हुई नदियों को गङ्गा आदि नदियाँ हैं, ऐसा नहीं कहा जाता। वैसे ही ब्रह्मदर्शी की प्राणादि कलाएं परमात्मा से अपृथक्स्थिति और अपृथक्प्रतीति के योग्य होकर परमात्मा को प्राप्त कर अस्त हो जाती हैं। वे पूर्व में जीवात्मा के भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप से उपस्थित होती हैं, उत्तरकाल में इन रूपों में उपस्थित नहीं होतीं अर्थात् ब्रह्मदर्शी के चरमशरीर का वियोग होने पर वे कलाएं परमपुरुष को प्राप्त कर अस्त हो जाती हैं तब उनके भोग्य, भोगोपकरण इत्यादि नाम तथा भोग्यत्व आदि रूप नहीं रहते, उस समय कलाओं की परम पुरुष से अपृथक्स्थिति और अपृथक्प्रतीति होने से 'परम पुरुष है', यही कहा जाता है। भोग्य आदि पदार्थ हैं, ऐसा नहीं कहा जाता। ब्रह्मदर्शी के चरम शरीर के वियोग का अर्थ है- प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत वाले शरीर का न रहना, तब शरीर के सम्बन्ध से होने वाली श्रद्धा भी नहीं होती। मुक्त आत्मा का प्रारब्ध न होने से उसका कहा जाने वाला अन्न भी नहीं रहता, उससे जन्य सामर्थ्य नहीं होता, तप नहीं होता। पूर्वशरीर से साध्य मन्त्र का उच्चारण नहीं होता, कर्म नहीं होते और उनके फलस्वरूप स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति नहीं होती और वह उनके नाम नहीं लेता। कलाओं के संसर्ग से होने वाले सुखादि का भोक्ता परमात्मा नहीं है, इसलिए वह अकल कहा जाता है। उनके संसर्ग से जन्य सुखादि के भोक्ता की ही देहवियोगरूप मृत्यु होती है वैसा भोक्ता न होने से परमात्मा अमृत (मृत्यु के अभाव वाला) कहा जाता है। उसके विषय में आगामी श्लोक प्रवृत्त होता है-

षष्ठो मन्त्रः

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः॥
तं वेद्यं पुरुषं वेद[1] मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥6॥

टिप्पणी - 1. 'वित्त' इत्यर्थे व्यत्ययेन 'वेद' इति रूपम् (टि.)।

अन्वय

रथनाभौ अराः इव कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद, वः मृत्युः मा परिव्यथाः इति।

अर्थ

रथनाभौ- रथ की नाभि में (स्थित) **अराः**- अर **इव**- के समान **कलाः**- कलाएं **यस्मिन्**- जिसमें **प्रतिष्ठिताः**- स्थित हैं। **तम्**- उस **वेद्यम्**- मुमुक्षुवेद्य **पुरुषम्**- परम पुरुष को **वेद**- जानो। **वः**- तुम सबको **मृत्युः**- मृत्यु **मा परिव्यथाः**- व्यथित न करे।

व्याख्या
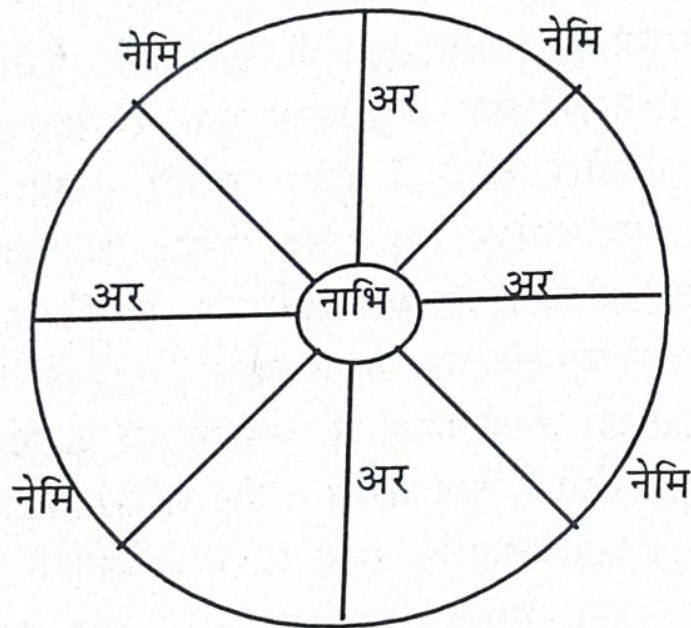
रथ के चक्र (पहिए) के मध्य भाग में नाभि स्थित होती है, उसकी परिधि को नेमि कहते हैं, नेमि को नाभि से जोड़ने वाले काष्ठ अर कहलाते हैं। जैसे अर रथ की नाभि में स्थित (प्रविष्ट) होते हैं, वैसे ही प्राणादि कलाएं जिसमें स्थित होती हैं, उस पुरुष को जानो। कलाएं परम पुरुष से उत्पन्न होती हैं और उसमें ही स्थित होती हैं, वह उनका उपादान कारण है। मुमुक्षु के द्वारा वेद्य उस परम पुरुष को जानो। अब

महर्षि पिप्पलाद उसके ज्ञान का फल कहते हैं- तुम सब को मृत्यु व्यथित न करे अर्थात् मृत्युकाल में भी तुम सब परमात्मस्मृति से च्युत न हो अथवा संसाररूप मृत्यु तुम्हारे ब्रह्मानुसन्धानरूप कार्य में बाधा न करे।

अब पञ्चम मन्त्र के **स एषोऽकलः** इस अंश की प्रकारान्तर से व्याख्या करके षष्ठ मन्त्र से उसका सम्बन्ध बताने के लिए कहते हैं-जीवात्मा की प्राणादि कलाएं होने पर उसकी मुक्ति कभी नहीं होगी? ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए आचार्य **यथेमा नद्यः** इत्यादि कहते हैं। जीवात्मा की कलाएं परम पुरुष को प्राप्त करके भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप से नहीं रहतीं अर्थात् जीवात्मा से उनका सम्बन्ध अत्यन्त निवृत्त हो जाता है, तव जीव कैसा होता है? इस पर कहते हैं- **सः**- पूर्व में 16 कलाओं वाला (और अब) **एषः**- परमात्मा में लीन हुई कलाओं वाला मुक्तात्मा **अकलः**- कलाओं के सम्बन्ध से रहित (तथा पुनः) **अमृतः**- संसार के सम्बन्ध से रहित **भवति**- होता है। जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है, यह अभिप्राय है, इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान आगे श्लोक के द्वारा करने के इच्छुक आचार्य **तदेष श्लोकः .... परिव्यथा इति** कहते हैं। जिसमें सभी कलाएं लीन हो जाती हैं, वह मुमुक्षुओं के द्वारा वेद्यपुरुष तुम सबके द्वारा उपास्य है, उपासना से प्रसन्न होकर वह मोक्ष प्रदान करेगा, इसलिए उसकी उपासना करो, तुम्हें मृत्यु पुनः व्यथित नहीं करेगी, यह अभिप्राय है।

सप्तमो मन्त्रः

तान् होवाच, एतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद, नातः परमस्तीति॥7॥

अन्वय

ह तान् उवाच, अहम् एतत् परं ब्रह्म एतावत् एव वेद, अतः परम् न अस्ति इति।

अर्थ

ह- प्रसिद्ध आचार्य ने **तान्**- उन ऋषियों को **उवाच**- कहा (कि) **अहम्**- मैं **एतत्**- इस **परम्**- पर **ब्रह्म**- ब्रह्म को **एतावत्**- इतना **एव**- ही **वेद**- जानता हूँ। **अतः**- इससे **परम्**- अधिक (मेरा ज्ञान) **न**- नहीं **अस्ति**-है।

व्याख्या

उपसंहार

प्रसिद्ध पिप्पलाद आचार्य ने ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु सुकेशा आदि छः ऋषियों से कहा कि परब्रह्म के विषय में मेरा इतना ही ज्ञान है, इससे अधिक नहीं। अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होने के पश्चात् वे यहाँ न रुकें। अपने स्थान में जाकर मनन-निदिध्यासन करें, इस अभिप्राय से आचार्य का यह कथन है। कोई भी वस्तु **अतः**- इस परब्रह्म से **परम्**- उत्कृष्ट **न**- नहीं **अस्ति**- है, ऐसा भी अन्तिम वाक्य का अर्थ संभव है।

अष्टमो मन्त्रः

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥8॥

अन्वय

ते तम् अर्चयन्तः यः अस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि, त्वं हि नः पिता इति। परमऋषिभ्यः नमः, परमऋषिभ्यः नमः।

अर्थ

ते- सुकेशा आदि सभी शिष्य **तम्**- आचार्य पिप्पलाद की **अर्चयन्तः**- अर्चना करते हुए बोले कि **यः**- जिन्होंने **अस्माकम्**- हम सब को **अविद्यायाः**- अविद्या के **परम्**- दूसरे **पारम्**- तीर **तारयसि**- पहुँचाया है, वही **त्वम्**- आप **हि**- ही **नः**- हम सबके **पिता**- पिता हैं। ब्रह्मविद्या के प्रदाता **परमऋषिभ्यः**- परम ऋषियों को **नमः**- नमस्कार है। **परमऋषिभ्यः**- परम ऋषियों को **नमः**- नमस्कार है।

व्याख्या

ऋषि सुकेशा आदि छः शिष्यों ने आचार्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए अर्चना करते हुए कहा कि आप हम सब को संसार सागर के दूसरे तीर ज्ञानरूप वेदी की प्राप्ति कराने वाले पिता हैं। अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि आचार्य विद्या से शिष्य को जन्म देता है, वह श्रेष्ठ जन्म है। माता-पिता तो केवल शरीर को उत्पन्न करते हैं- **स हि विद्यातस्तं जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म, शरीरमेव मातापितरौ जनयतः** (आ.ध.सू.1.16-18)। पिता केवल शरीर को जन्म देता है। वह रोग, जरा, मरण आदि के द्वारा नाना प्रकार के दुःखों का हेतु होता है। आचार्य उन दुःखों का नाशक विद्या से जन्म देता है। आचार्य शिष्य के उद्धार के लिए ब्रह्मविद्या प्रदान करते हैं, जिससे उसमें शुभ संस्कारों का आधान होता है, यही विद्या के द्वारा जन्म है। पालन करने वाले को पिता कहते हैं- **पातीति पिता।** जो शरीर को जन्म देकर विविध दुःखों का कारण बनता है, उस पालन करने वाले को पिता कैसे कहा जाय? आचार्य विद्या से जन्म देते हैं, उससे निरतिशय आनन्दरूप मोक्ष प्राप्त होता है इसलिए आचार्य ही ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं का पिता होता है। **नमः परम ऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः**[1] यह उपनिषत् की समाप्ति पर कहा जाने वाला शान्ति पाठ है, इसकी आवृत्ति उपनिषत् की समाप्ति का सूचक है।

।।प्रश्नोपनिषत् की व्याख्या समाप्त।।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यॉऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

।।इति प्रश्नोपनिषत्।।

टिप्पणी- 1. उत्तरशान्तिस्थाने इदम् (प्रका.)।

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृता।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्या तत्त्वविवेचनी।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।।2।।
।। इति ।।

परिशिष्ट- 1

संकेताक्षरानुक्रमणिका

अ. को.	–	अमरकोशः
अ.पु.	–	अग्निपुराणम्
अ.प्र.	–	अनुभूतिप्रकाशः
आ.ध..सू.	–	आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
आ.भा.	–	आनन्दभाष्यम्
उ.ख.	–	उपनिषत्खण्डार्थव्याख्या
ग.पु.पू.	–	गरुडपुराणपूर्वार्द्धः
गी.	–	गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)
गी.रा.भा.	–	गीतारामानुजभाष्यम्
च.सू..	–	चन्द्रगोमिकृतवर्णसूत्राणि (शिक्षासूत्राणि)
छां.उ.	–	छान्दोग्योपनिषत्
जा.द.उ.	–	जाबालदर्शनोपनिषत्
टि.	–	टिप्पणी (प्रश्नोपनिषद्भाष्यटिप्पणी)
ता. च.	–	तात्पर्यचन्द्रिका(गीतारामानुजभाष्यस्य व्याख्या)
तै.ना.उ.	–	तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्
प्र.उ.	–	प्रश्नोपनिषत्
प्रका.	–	प्रकाशिका (रङ्गरामानुजभाष्यम्)
प्रदी.	–	प्रतिपदार्थदीपिका
बृ.उ.	–	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.पु.उ.	–	बृहद्धर्मोत्तरपुराण- उत्तरार्द्धः
ब्र.वै.पु.ग.ख.	–	ब्रह्मवैवर्त्तपुराण- गणपतिखण्डः
ब्र.सू.	–	ब्रह्मसूत्रम्
भ.पु.	–	भविष्यपुराणम्
भा.	–	भागवतम् (श्रीमद्भागवतम्)

म.भा.	–	महाभाष्यम्
म.स्मृ.	–	मनुस्मृतिः
मां.उ.	–	माण्डूक्योपनिषत्
वा.रा.	–	वाल्मीकीयरामायणम्
वि.ध.प.	–	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
श्वे.उ.	–	श्वेताश्वतरोपनिषत्
श्वे.उ.रं.भा.	–	श्वेताश्वतरोपनिषत्- रङ्ग्रामानुजभाष्यम्
सु.	–	सुबोधिनी
स्क.पु.	–	स्कन्दपुराणम्

परिशिष्ट- 2

मन्त्रानुक्रमणिका

परिशिष्ट- 3

प्रमाणानुक्रमणिका

परिशिष्ट- 4

ग्रन्थानुक्रमणिका

1. **अनुभूतिप्रकाशः**

   श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचितः, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली 1983

2. **अमरकोशः**

   सुधाख्ययां व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन दिल्ली, सन् 1985

3. **ईशादि नौ उपनिषद्**

   हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2040

4. **ईशादिपञ्चोनिषदः**

   श्रीमद् विष्वक् सेनाचार्य श्री त्रिदण्डी स्वामी जी द्वारा प्रणीत गूढार्थदीपिकाभाषा व्याख्या श्रीमहालक्ष्मी नारायणयज्ञसमिति ओझापट्टी सेमरिया, जिला - भोजपुर, वि.स. 2049

5. **ईशावास्योपनिषत्**

   तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् 2014

6. **उपनिषद्भाष्यम्**

   श्रीमदानन्दतीर्थविरचितम् उपनिषत्खण्डार्थेन च विभूषितम् पूर्णप्रज्ञसंशोध मन्दिरम्, पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम् बैंगलूरु सन् 1997।

7. **उपनिषद्भाष्यम्**

   श्रीरङ्गरामानुजमुनि विरचित तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्यभाष्यम्, श्रीमद्वीरराघवाचार्यमहादेशिक विरचित परिष्कार उपनिषदर्थसंग्रह-कारिका सहितम्, श्री उत्तमूर वीर राघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट चेन्नै सन् 2004

8. **उपनिषद्भाष्यम्**

श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, केनाद्युपनिषत्पुरुषसूक्तश्रीसूक्तभाष्यम्, श्रीमदविभनवदेशिक वीरराघवाचार्य महादेशिकविरचितपरिष्कार-उपनिषदर्थकारिकासहितम्, श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट चेन्नै सन् 200

9. **उपनिषत्संग्रहः**

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली सन् 2006

10. **उपासना दर्पण**

सम्पादक स्वामी त्रिभुवनदास, मलूक पीठ, वंशीवट, वृन्दावन, सन् 2010

11. **एकादशोपनिषदः**

(मणिप्रभया, मिताक्षरया, दीपिकया समलङ्कृताः) प्रकाशक सुन्दरलाल जैन, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, सैदभिट्ठा, बाजार लाहौर सन् 1937

12. **कठोपनिषत्**

तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् 2015

13. **कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्**

रङ्गरामानुजभाष्योपेता, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2012

14. **छान्दोग्योपनिषत्**

प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द-सुबोधिन्याख्यभाष्य-चतुष्टयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे।

15. **पञ्चतन्त्रम् (मित्रभेदः)**

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतम्, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन् 1995

16. **प्रश्नोपनिषत्**

आनन्दगिरिकृत टीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता कैलास आश्रम ऋषीकेश, वि.सं. 2039

17. **प्रश्नोपनिषत्**
व्याख्याचतुष्टयोपेता (विमर्शात्मक सम्पादनम्) संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2002

18. **प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, तिरुमल तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति, सन् 1984।

19. **बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, उत्तमूर ति. वीरराघवाचार्य सम्पादितम् तिरुमला तिरुपति देव स्थानम् तिरुपति, सन् 1953

20. **मनुस्मृतिः**
मन्वर्थमुक्तावलीसहिता, मणिलाल देसाई गुजराती मुद्रणालय मुम्बई सन् 1913

21. **महाभाष्यम् प्रथमो भागः (प्रथमः खण्डः)**
पतञ्जलिमुनिविरचितम्, हिन्दीव्याख्या सहितम् व्याख्याकार युधिष्ठिर मींमासक, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ, हरियाणा, वि.सं. 2049

22. **मुण्डक-प्रश्न-उपनिषत्**
आनन्दगिरिटीकाघटित शांकरभाष्यानुवाद, श्रीदक्षिणामूर्ति मठ वाराणसी वि.सं. 2048

23. **विशिष्टाद्वैत कोशः (द्वितीयः सम्पुटः)**
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 1987

24. **विशिष्टाद्वैत कोशः (षष्ठः सम्पुटः)**
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 1997

25. **विशिष्टाद्वैत कोशः (सप्तमः सम्पुटः)**
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2005

26. **विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन**
स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् 2013

27. **वेदान्तदीप**
(हिन्दी व्याख्या समेत प्रथम खण्ड) श्रीभगवद् रामानुजविरचित, हिन्दी व्याख्याकार स्वामी नीलमेघाचार्य प्रकाशक राघवाचार्य, आचार्य प्रेस बरेली, वि.सं. 2020

28. **व्याकरणमहाभाष्यम् (नवाह्निकम्)**
महर्षि पतञ्जलिसमुल्लसितम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 1987

29. **शिक्षा सूत्राणि**
आपिशल - पाणिनि - चन्द्रगोमि - विरचितानि, सम्पादक - युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ. हरियाणा, वि. सं. 2053

30. **श्रीअग्निमहापुराणम्**
नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1985

31. **श्रीगरुडमहापुराणम्**
नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1984

32. **श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणम्**
(द्वितीयो भागः) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, दिल्ली, सन् 2004

33. **श्रीभविष्यपुराणम्**
नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1985

34. **श्रीमद्भगवद्गीता**
तात्पर्यचन्द्रिकासहितं रामानुजभाष्यम्, श्रीरंगनाथप्रेस वृन्दावन, सन् 1976

35. **श्रीमद्भगवद्गीता**
श्रीरामानुजभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2050

36. **श्रीमद् भागवत महापुराण**
हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि. सं. 2045

37. **श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण**
हिन्दीभाषान्तरसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि. सं. 2045

38. **श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणम्**
नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1925

39. **श्रीविष्णुमहापुराणम्**
विष्णुचित्यात्मप्रकाशाख्य- श्रीधरीव्याख्याद्वयोपेतम्, नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1985

40. **श्रीविष्णुमहापुराणम्**
हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर वि.सं.2050

41. **श्रीस्कन्दमहापुराणम्**
नाग पब्लिशर्स दिल्ली, सन् 1986

42. **साधक शंका समाधान**
(भाग- 3 अप्रकाशित) स्वामी शंकरानन्द सरस्वती, ऋषीकेश
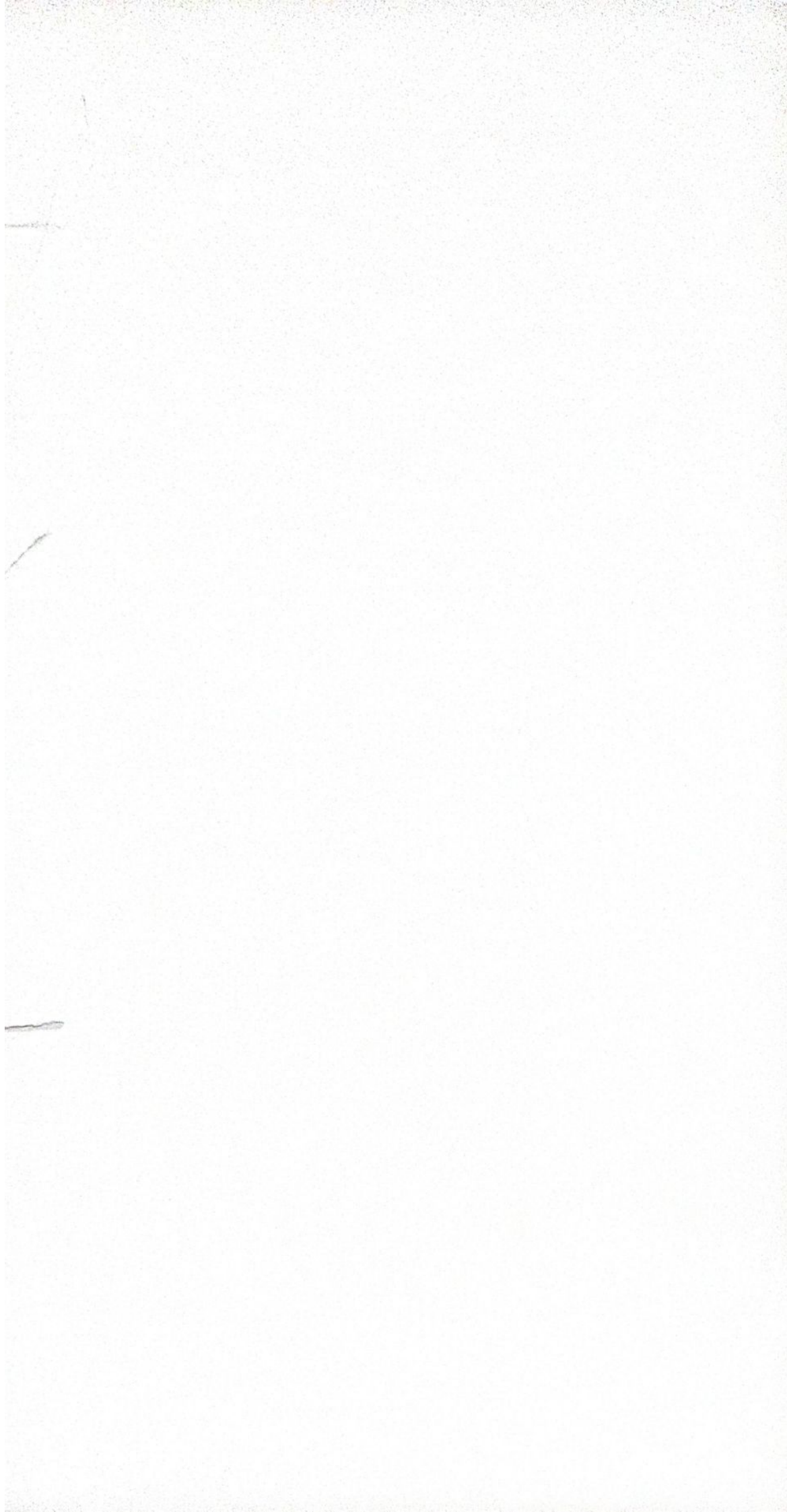
प्रस्तुत प्रश्नोपनिषत् ग्रन्थ में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थके बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थ के अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है।

व्याख्याकार की प्रकाशित कृतियाँ

1. विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
2. तत्त्वत्रयम्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
3. ईशावास्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
4. केनोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
5. कठोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
6. प्रश्नोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
7. मुण्डकोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
8. माण्डूक्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
9. केन-माण्डूक्य-उपनिषत्-रङ्गरामानुजभाष्य-हिन्दीव्याख्या

प्रकाशनाधीन

10. तैत्तिरीयोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
11. ऐतरेयोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
12. ऐतरेयोपनिषत्-रङ्गरामानुजभाष्य- हिन्दीव्याख्या
13. श्रीमद्भगवद्गीता- हिन्दीव्याख्या
14. अर्थपञ्चक- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
15. ब्रह्मसूत्र- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
16. छान्दोग्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
17. सांख्यकारिकागौडपादभाष्य- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
18. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
19. बृहदारण्यकोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
20. तर्कसंग्रह-पदकृत्य-हिन्दीव्याख्या

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान - दिल्ली